उर्दू का बेहतरीन हास्य-व्यंग्य

उर्दू में हास्य-व्यंग्य की एक अटूट परम्परा हैं। मिर्ज़ा फ़रहत अल्लाह बेग, अज़ीम बेग़ चग़ताई और मुल्ला रमूज़ी के बाद जब पतरस ने इस विधा को छुआ तो इसे ऐसी बुलन्दियों पर पहुँचा दिया, जिन्हे छूने के लिए अन्य लेखक अभी तक प्रयत्नशील हैं।

उर्दू का बेहतरीन हास्य-व्यंग्य—मे पतरस से लेकर फ़िक्र तौंसवी तक उर्दू के प्रसिद्ध हास्य-व्यंग्य लेखकों के अत्यन्त रोचक निबंध, स्केच और कहानियाँ संकलित हैं। यह हास्य-व्यंग्य मन को गुदगुदाता ही नहीं, मुस्कराने या हँसने पर ही विवश नहीं करता, सोचने और समस्याओं को तीव्रता से सोचने पर भी मजबूर करता है।

उर्दू का बेहतरीन हास्य-व्यंग्य

सम्पादक
उपेन्द्रनाथ अश्क

नीलाभ प्रकाशन
५. ख़ुसरो बाग़ रोड, इलाहाबाद-१

- पहला संस्करण १९६२
- मूल्य : [illegible]
- प्रकाशक : नीलाभ प्रकाशन
  ५. खुसरो बाग़ रोड, इलाहाबाद-१
- मुद्रक : भार्गव प्रेस
  बाई का बाग़, इलाहाबाद-३

अनुक्रम

●

उर्दू का बेहतरीन हास्य-व्यंग्य

पतरस

●●●

मरहूम की याद में

एक दिन मिर्ज़ा साहब और मैं बरामदे में साथ-साथ कुर्सियाँ डाले चुपचाप बैठे थे। जब दोस्ती बहुत पुरानी हो जाय तो बात-चीत की कुछ वैसी ज़रूरत बाक़ी नहीं रहती और दोस्त एक-दूसरे की खामोशी से भी लुत्फ़ उठा सकते हैं। यही हालत हमारी थी। हम दोनों अपने-अपने विचारों में डूबे थे। मिर्ज़ा साहब तो खुदा जाने क्या सोच रहे थे, लेकिन मैं ज़माने के ज़ुल्म-ो-सितम पर ग़ौर कर रहा था। दूर सड़क पर थोड़े-थोड़े समय के बाद एक मोटर कार गुज़र जाती थी। मेरी तबीयत कुछ ऐसी है कि मैं जब कभी किसी की मोटर को देखूँ, मुझे ज़माने के ज़ुल्म का खयाल ज़रूर सताने लगता है और मैं कोई ऐसी तरकीब सोचने लगता हूँ, जिससे दुनिया की तमाम दौलत सब में बराबर बाँटी जा सके। अगर मैं सड़क पर पैदल जा रहा हूँ और कोई मोटर इस अदा से गुज़र जाये कि गर्द-ग़ुबार मेरे फेफड़ों, मेरे दिमाग़, मेरे मेदे और मेरी तिल्ली तक पहुँच जाय तो उस दिन मैं घर आकर केमेस्ट्री की वह किताब निकाल लेता हूँ, जो मैंने एफ़० ए० में

पढ़ी थी और इस ग़रज़ से उसे पढ़ने लगता हूँ कि शायद बम बनाने का कोई नुस्खा हाथ आ जाय।

मैं कुछ देर तक आहें भरता रहा। मिर्ज़ा साहब ने कुछ ध्यान न दिया। आखिर मैंने खामोशी को तोड़ा और मिर्ज़ा से मुखातिब होकर बोला, "मिर्ज़ा हम में और हैवानों में क्या फ़र्क़ है?"

मिर्ज़ा साहब बोले, "भई कुछ होगा ही न आखिर!"

मैंने कहा, "मैं बताऊँ तुम्हें?"

कहने लगे, "बोलो।"

मैंने कहा, "कोई फ़र्क़ नहीं। सुनते हो मिर्ज़ा, कोई फ़र्क़ नहीं? हम में और हैवानों में....कम-से-कम मुझ में और हैवानों में कोई फ़र्क़ नहीं। हाँ, हाँ। मैं जानता हूँ, तुम मीन-मेख निकालने में बड़े माहिर हो। कह दोगे, 'हैवान जुगाली करते हैं, तुम जुगाली नहीं करते। उनके दुम होती है, तुम्हारे दुम नहीं।' लेकिन इन बातों से क्या होता है? इनसे तो सिर्फ़ यही साबित होता है कि वो मुझसे अच्छे हैं। लेकिन एक बात में मैं और वो बिलकुल बराबर हैं। वो भी पैदल चलते हैं, मैं भी पैदल चलता हूँ। इसका तुम्हारे पास क्या जवाब है? नहीं! कुछ है तो कहो। बस चुप हो जाओ। तुम कुछ नहीं कह सकते। जब से मैं पैदा हुआ हूँ, उस दिन से पैदल चल रहा हूँ, पैदल! तुम पैदल के मानी नहीं जानते? पैदल के मानी हैं ज़मीन के सीने पर इस तरह से हरकत करना कि दोनों पाँवों में से एक ज़रूर ज़मीन पर रहे। यानी सारी उम्र मेरे हरकत करने का तरीक़ा यही रहा है कि एक पाँव ज़मीन पर रखता हूँ, दूसरा उठाता हूँ, दूसरा रखता हूँ, पहला उठाता हूँ। एक आगे एक पीछे, एक पीछे एक आगे। खुदा की क़सम इस तरह की ज़िन्दगी से दिमाग़ सोचने के क़ाबिल नहीं रहता, हवास बेकार हो जाते हैं, तखय्युल[1] मर जाता है। आदमी गधे से बदतर हो जाता है।"

मिर्ज़ा साहब मेरी इस तक़रीर के दौरान में कुछ इस बे-परवाही से सिगरेट पीते रहे कि दोस्तों की बेवफ़ाई पर रोने को दिल चाहता था।

---

१. कल्पना।

मैंने बेहद हिक़ारत और नफ़रत के साथ मुँह उनकी तरफ़ से फेर लिया। ऐसा मालूम होता था कि मिर्ज़ा को मेरी बातों पर यक़ीन ही नहीं आता, गोया मैं अपनी जो तकलीफ़ बयान कर रहा हूँ वह महज़ खयाली है, यानी मेरा पैदल चलने के खिलाफ़ शिकायत करना ध्यान देने के क़ाबिल ही नहीं। यानी मैं किसी सवारी का हक़ ही नहीं रखता। मैंने दिल में कहा—अच्छा मिर्ज़ा यूँही सही। देखो तो मैं क्या करता हूँ।

मैंने दाँत पच्ची कर लिये और कुर्सी के बाज़ू पर से झुक कर मिर्ज़ा के क़रीब पहुँच गया। मिर्ज़ा ने भी सिर मेरी तरफ़ मोड़ा। मैं मुस्करा दिया। लेकिन मेरी मुस्कराहट में ज़हर मिला हुआ था। जब मिर्ज़ा सुनने के लिए बिलकुल तैयार हो गया तो मैंने चबा-चबाकर कहा—"मिर्ज़ा मैं एक मोटर कार खरीदने लगा हूँ।"

यह कहकर मैं बड़ी बे परवाही के साथ दूसरी तरफ़ देखने लगा।

मिर्ज़ा बोले, "क्या कहा तुमने ? क्या खरीदने लगे हो ?"

मैंने कहा, "सुना नहीं तुमने। मैं एक मोटर कार खरीदने लगा हूँ। मोटर कार एक ऐसी गाड़ी है, जिसको कुछ लोग मोटर कहते हैं, कुछ लोग सिर्फ़ कार कहते हैं,। लेकिन चूँकि तुम ज़रा कुन्द ज़ेहन हो, इसलिए मैंने दोनों लफ़्ज़ इस्तेमाल कर दिये हैं ताकि तुम्हें समझने में कोई दिक़्क़त न पेश आये।"

मिर्ज़ा बोले, "हूँ !"

अब के मिर्ज़ा नहीं, मैं बे-परवाही से सिगरेट पीने लगा। भवें मैंने ऊपर को चढ़ा लीं। सिगरेट वाला हाथ मैं मुँह तक इस अन्दाज़-से लाता और हटाता था कि बड़े-बड़े ऐक्टर उस पर रश्क करें।

थोड़ी देर के बाद मिर्ज़ा फिर बोले, "हूँ !"

मैंने सोचा, असर हो रहा है। मिर्ज़ा साहब पर रोब पड़ रहा है। लेकिन मिर्ज़ा ने फिर कहा, "हूँ !"

मैंने कहा, "मिर्ज़ा ! जहाँ तक मुझे मालूम है, तुमने स्कूल, कॉलेज और घर पर दो-तीन ज़बानें सीखी हैं और इसके अलावा तुम्हें कई ऐसे अलफ़ाज़

भी आते हैं, जो किसी स्कूल, कॉलेज या शरीफ़ घराने में नहीं बोले जाते। फिर भी इस वक़्त तुम्हारी बात 'हूँ' से आगे नहीं बढ़ती। तुम जलते हो। मिर्ज़ा, इस वक़्त तुम्हारे दिल की जो हालत है, उसको अरबी ज़बान में हसद कहते हैं।"

मिर्ज़ा साहब कहने लगे, "नहीं, यह बात तो नहीं। मैं तो सिर्फ़ 'ख़रीदने' के लफ़्ज़ पर ग़ौर कर रहा था। तुमने कहा, मैं एक मोटर कार ख़रीदने लगा हूँ, तो मियाँ साहबज़ादे, ख़रीदना तो एक ऐसा फ़ेल (क्रिया) है कि उसके लिए रुपये वग़ैरह की ज़रूरत होती है। वग़ैरह का बन्दोबस्त तो बख़ूबी हो जायगा, लेकिन रुपये का बन्दोबस्त कैसे करोगे?"

यह बात मुझे भी न सूझी थी। लेकिन मैंने हिम्मत न हारी। मैंने कहा, "मैं अपनी कई क़ीमती चीज़ें बेच सकता हूँ।"

मिर्ज़ा बोले, "कौन-कौन-सी, मसलन?"

मैंने कहा, "एक तो मैं अपना सिगरेट-केस बेच डालूँगा।"

मिर्ज़ा कहने लगे, "चलो दस आने तो ये हो गये। बाक़ी ढाई तीन हज़ार का इन्तज़ाम भी इसी तरह हो जाय तो सब काम ठीक हो जायगा।"

इसके बाद ज़रूरी यही मालूम हुआ कि बात-चीत का सिलसिला कुछ देर के लिए रोक दिया जाय। चुनांचे मैं मिर्ज़ा से बेज़ार होकर ख़ामोश हो रहा। यह बात समझ में न आयी कि लोग रुपया कहाँ से लाते हैं। बहुत सोचा। आख़िर इस नतीजे पर पहुँचा कि लोग चोरी करते हैं। इससे कुछ इत्मीनान हुआ।

मिर्ज़ा बोले, "मैं तुम्हें एक तरकीब बताऊँ। एक बाइसिकिल ले लो।

मैंने कहा, "वह रुपये का मसला तो फिर भी जूँ-का-तूँ रहा।"

कहने लगे, "मुफ़्त।"

मैंने हैरान होकर पूछा, "मुफ़्त! वह कैसे?"

कहने लगे, "मुफ़्त ही समझो। आख़िर दोस्त से क़ीमत लेना भी कहाँ की शराफ़त है। हाँ तुम ही एहसान लेना गवारा न करो तो और बात है।"

ऐसे मौक़े पर जो हँसी मैं हँसता हूँ उसमें मासूम बच्चे की मसर्रत, जवानी की खुशदिली, उबलते हुए फ़व्वारों का संगीत और बुलबुलों का नग़मा—सब एक दूसरे के साथ मिले होते हैं। चुनांचे मैं यह हँसी हँसा और इस तरह हँसा कि खिली हुई बाछें फिर घंटों तक अपनी असली जगह पर वापस न आयीं। जब मुझे यक़ीन हो गया कि एकदम अचानक कोई अच्छी खबर सुनने से दिल की हरकत बन्द हो जाने का जो खतरा होता है, उससे बच गया हूँ तो मैंने पूछा, "है किसकी ?"

मिर्ज़ा बोले, "मेरे पास एक बाइसिकिल पड़ी है। तुम ले लो।"

मैंने कहा, "फिर कहना, फिर कहना !"

कहने लगे, "भाई एक बाइसिकिल मेरे पास है। जब मेरी है तो तुम्हारी है। तुम ले लो !"

यक़ीन मानिए, मुझ पर घड़ों पानी पड़ गया। शर्म के मारे मैं पसीना-पसीना हो गया। बीसवीं सदी में ऐसी बेग़रज़ी और त्याग भला कहाँ देखने में आता है। मैंने कुर्सी सरका कर मिर्ज़ा के पास करली। समझ में न आया कि अपनी शर्मिन्दगी और कृतज्ञता किन शब्दों में प्रकट करूँ।

मैंने कहा, "मिर्ज़ा, सबसे पहले मैं उस गुस्ताखी और बे-अदबी के लिए माफ़ी माँगता हूँ, जो अभी-अभी मैंने तुम्हारे साथ बात-चीत में बरती है। दूसरे मैं आज तुम्हारे सामने एक बात का एतराफ़ करना चाहता हूँ और उम्मीद करता हूँ कि तुम मेरी साफ़गोई की दाद दोगे और मुझे अपनी दरिया-दिली के सदक़े माफ़ कर दोगे। मैं हमेशा तुमको बेहद कमीना, कंजूस, खुदग़रज़ और अय्यार समझता रहा हूँ। देखो, नाराज़ मत होना। इन्सान से ग़लती हो ही जाती है। लेकिन आज तुमने अपनी शराफत और दोस्त-परवरी का सुबूत दिया है और मुझ पर साबित कर दिया है कि मैं कितना क़ाबिले-नफ़रत, तंग-खयाल और हक़ीर शख्स हूँ। मुझे माफ़ कर दो !"

मेरी आँखों में आँसू भर आये। क़रीब था कि मैं मिर्ज़ा के हाथ को चूमता और अपने आँसुओं को छिपाने के लिए उसकी गोद में सर रख देता, लेकिन मिर्ज़ा साहब कहने लगे, "वाह, इसमें मेरी फ़य्याज़ी क्या

हुई। मेरे पास एक साइकिल है। जैसे मैं सवार हुआ वैसे तुम सवार हुए।"

मैंने कहा, "मिर्ज़ा, मैं मुफ़्त में न लूँगा। यह हरगिज़ नहीं हो सकता।"

मिर्ज़ा कहने लगे, "बस, मैं इसी बात से डरता था। तुम हस्सास इतने हो कि किसी का एहसान लेना गवारा नहीं करते। हालाँकि खुदा गवाह है, एहसान इसमें कोई नहीं!"

मैंने कहा, "खैर कुछ भी सही। तुम सचमुच मुझे उसकी क़ीमत बता दो!"

मिर्ज़ा बोले, "क़ीमत का ज़िक्र करके तुम गोया मुझे काँटों में घसीटते हो। जिस क़ीमत पर मैंने खरीदी थी, वह तो बहुत ज़्यादा थी। और अब तो वह उतने की रही भी नहीं।"

मैंने पूछा, "तुमने कितने में खरीदी थी?'

कहने लगे, "मैंने पौने दो सौ रुपये में ली थी। लेकिन उस ज़माने में बाइसिकिलों का रिवाज ज़रा कम था इसलिए क़ीमतें ज़रा ज़्यादा थी।"

मैंने कहा, "क्या बहुत पुरानी है?"

बोले, "नहीं ऐसी पुरानी भी क्या होती। मेरा लड़का उस पर कॉलेज आया-जाया करता था, और उसे कॉलेज छोड़े अभी दो साल भी नहीं हुए। लेकिन इतना ज़रूर है कि आज कल की साइकिलों से ज़रा मुख्तलिफ़ (भिन्न) है। आजकल तो बाइसिकिलें टीन की बनती हैं, जिन्हें कॉलेज के सर-फिरे लौंडे सस्ती समझ कर खरीद लेते हैं। पुरानी बाइसिकिलों के ढाँचे मज़बूत हुआ करते थे।"

"मगर मिर्ज़ा, पौने दो सौ रुपये तो मैं हरगिज़ नहीं दे सकता। इतने रुपये मेरे पास कहाँ से आये। मैं तो इससे आधी क़ीमत भी नहीं दे सकता।"

मिर्ज़ा कहने लगे, "तो मैं तुमसे पूरी क़ीमत थोड़ी माँगता हूँ। अव्वल तो क़ीमत लेना नहीं चाहता! लेकिन....।"

मैंने कहा, "न मिर्ज़ा। क़ीमत तो तुम्हें लेनी पड़ेगी। अच्छा तुम यों करो। मैं तुम्हारी जेब में कुछ रुपये डाल देता हूँ। तुम घर जा के गिन लेना। अगर तुम्हें मंज़ूर हुए तो कल बाइसिकिल भेज देना, वरना रुपये वापस

कर देना। अब यहाँ बैठ कर मैं तुमसे सौदा चुकाऊँ, यह तो कुछ दुकानदारों की-सी बात मालूम होती है।"

मिर्ज़ा बोले, "भई जैसी तुम्हारी मर्ज़ी। मैं तो अब भी यही कहता हूँ कि क़ीमत-वीमत जाने दो। लेकिन मैं जानता हूँ कि तुम न मानोगे।"

मैं उठ कर अन्दर कमरे में आया। मैंने सोचा, इस्तेमाल की हुई चीज़ की लोग आम तौर पर आधी क़ीमत देते हैं। लेकिन जब मैंने मिर्ज़ा से कहा था कि मिर्ज़ा मैं तो आधी क़ीमत भी नहीं दे सकता तो मिर्ज़ा ने इस पर एतराज़ न किया था। वह बेचारा तो बल्कि यही कहता था कि तुम मुफ़्त ही ले लो। लेकिन मुफ़्त मैं कैसे ले लूँ। आखिर बाइसिकिल है, एक सवारी है, फ़िटनों और घोड़ों और मोटरों और ताँगों के साथ गिनी जाती है। बक्स को खोला तो मालूम हुआ कि कुल छियालीस रुपये हैं। छियालीस रुपये तो कुछ ठीक रक़म नहीं। पैंतालीस या पचास हों जब भी बात है। पचास तो हो नहीं सकते। और अगर पैंतालीस ही देने हैं तो चालीस क्यों न दिये जायें। जिन रक़मों के आखिर में सिफ़र (शून्य) आता है, वो रक़में कुछ ज़्यादा अच्छी मालूम होती हैं। बस ठीक है, चालीस रुपये दे दूँगा। खुदा करे मिर्ज़ा क़बूल कर ले।

बाहर आया। चालीस रुपये मुट्ठी में बन्द करके मैंने मिर्ज़ा की जेब में डाल दिये और कहा, "मिर्ज़ा, इसको क़ीमत न समझना। लेकिन अगर एक मुफ़लिस दोस्त की हक़ीर-सी रक़म मंज़ूर करना तुम्हें अपनी तौहीन मालूम न हो तो कल बाइसिकिल भिजवा देना।"

मिर्ज़ा चलने लगे तो मैंने फिर कहा कि मिर्ज़ा कल ज़रूर सुबह-ही-सुबह भिजवा देना। रुख़सत होने से पहले मैंने फिर एक दफ़ा कहा, "कल सुबह आठ-नौ बजे तक पहुँच जाय। देर न करना....खुदा हाफ़िज़....और देखो मिर्ज़ा, मेरे थोड़े से रुपयों को भी बहुत ज़्यादा समझना....खुदा हाफ़िज़....और तुम्हारा बहुत बहुत शुक्रिया। मैं तुम्हारा बहुत मशकूर हूँ। और मेरी गुस्ताखी को माफ़ कर देना। देखो न, कभी-कभी यूँही बेतकल्लुफ़ी में.... कल सुबह आठ-नौ बजे तक....ज़रूर....खुदा हाफ़िज़।"

मिर्ज़ा कहने लगे, "ज़रा उसको झाड़-पोंछ लेना, और तेल वग़ैरह डलवा लेना। मेरे नौकर को फ़ुर्सत हुई तो मैं ख़ुद ही डलवा दूँगा, वरना तुम ख़ुद डलवा लेना।"

मैंने कहा, "हाँ हाँ, वह सब कुछ हो जायगा। तुम कल भेज ज़रूर देना। और देखना, आठ बजे तक या साढ़े सात तक पहुँच जाय। अच्छा.... ख़ुदा हाफ़िज़!"

रात को बिस्तर पर लेटा तो बाइसिकिल पर सैर करने के अनेक प्रोग्राम बनाता रहा। यह इरादा तो पक्का कर लिया कि दो-तीन दिन के अन्दर-अन्दर इर्द-गिर्द की तमाम मशहूर तारीख़ी इमारतों और खंडहरों को नये सिरे से देख डालूँगा। इसके बाद अगली गर्मी के मौसम में हो सका तो बाइसिकिल पर कश्मीर वग़ैरह की सैर करूँगा। सुबह-सुबह हवाख़ोरी के लिए हर रोज़ नहर तक जाया करूँगा। शाम को ठंडी सड़क पर जहाँ और लोग सैर को निकलेंगे, मैं भी सड़क की साफ़-स्वच्छ सतह पर आहिस्ता-आहिस्ता ख़ामोशी के साथ हाथी-दाँत की एक गेंद की तरह ग़ुज़र जाऊँगा। डूबते हुए सूरज की रोशनी बाइसिकिल के चमकीले हिस्सों पर पड़ेगी तो बाइसिकिल जगमगा उठेगी और ऐसा मालूम होगा जैसे एक राज हंस ज़मीन के साथ-साथ उड़ रहा है। वह मुस्काराहट, जिसका मैं ऊपर ज़िक्र कर चुका हूँ, अभी तक मेरे होंठों पर खेल रही थी। कई बार जी चाहा कि अभी भाग कर जाऊँ और इसी वक़्त मिर्ज़ा को गले लगा लूँ!

रात को सपने में दुआएँ माँगता रहा कि ख़ुदाया, मिर्ज़ा बाइसिकिल देने पर रज़ामन्द हो जाय।

सुबह उठा तो उठते ही नौकर ने यह ख़ुशख़बरी सुनायी कि हुज़ूर वह बाइसिकिल आ गयी है।

मैने कहा, "इतने सवेरे?"

नौकर ने कहा, "वह तो रात ही को आ गयी थी। आप सो गये थे। मैंने जगाना मुनासिब न समझा। और साथ ही मिर्ज़ा साहब का आदमी

ढिबरियाँ कसने का एक औज़ार भी दे गया है ।"

मैं हैरान तो हुआ कि मिर्ज़ा साहब ने साइकिल भिजवा देने में इतनी जल्दी से क्यों काम लिया । लेकिन इस नतीजे पर पहुँचा कि आदमी निहायत शरीफ़ और दयानतदार है । रुपये ले लिये थे तो बाइसिकिल क्यों रोक रखता ।

नौकर से कहा, "देखो, यह औज़ार यहीं छोड़ जाओ और देखो, साइकिल को किसी कपड़े से खूब अच्छी तरह झाड़ो । और यह मोड़ पर जो बाइसिकिलों वाला बैठता है, उससे जा कर बाइसिकिल में डालने का तेल ले आओ । और देखो, अबे भागा कहाँ जा रहा है ?....हम ज़रूरी बात तुम से कह रहे हैं । बाइसिकिल वाले से तेल की एक कुप्पी भी ले आना । और जहाँ-जहाँ तेल देने की जगह है वहाँ तेल दे देना । और बाइसिकिलों वाले से कहना कि कोई घटिया-सा तेल न दे दे, जिससे तमाम पुर्ज़े ही खराब हो जायँ । बाइसिकिल के पुर्ज़े बड़े नाज़ुक होते हैं । और बाइसिकिल बाहर निकाल रखो । हम अभी कपड़े पहन कर आते हैं । ज़रा सैर को जा रहे हैं । और देखो, साफ़ कर देना और बहुत ज़ोर-ज़ोर से कपड़ा भी मत रगड़ना । बाइसिकिल का पालिश घिस जाता है ।"

जल्दी-जल्दी चाय पी । ग़ुसलखाने में बड़े जोश-खरोश के साथ 'चल चल चमेली बाग़ में ...' गाता रहा । इसके बाद कपड़े बदले, औज़ार को जेब में डाला और कमरे से बाहर निकला ।

बरामदे में आया तो बरामदे के साथ ही एक अजीब-ग़रीब मशीन दिखायी पड़ी । ठीक तरह पहचान न सका कि क्या चीज़ है । नौकर से पूछा, "क्यों बे, यह क्या चीज़ है ?"

नौकर बोला, "हुज़ूर, यह बाइसिकिल है ।"

मैंने कहा, "बाइसिकिल ! किसकी बाइसिकिल !"

कहने लगा, "मिर्ज़ा साहब ने भिजवायी है । आपके लिए ।"

मैंने कहा, "और जो बाइसिकिल रात को उन्होंने भेजी थी, वह कहाँ गयी ?"

कहने लगा, "यही तो है ।"

मैंने कहा, "क्या बकता है ? जो बाइसिकिल मिर्ज़ा साहब ने कल रात को भेजी थी, वह बाइसिकिल यही है ?"

कहने लगा, "जी हाँ।"

मैंने कहा, "अच्छा।" और फिर उसे देखने लगा।

"इसको साफ़ क्यों नहीं किया ?"

"हुज़ूर, दो तीन दफ़ा साफ़ किया है।"

"तो यह मैली क्यों है ?"

नौकर ने इसका जवाब देना शायद उचित नहीं समझा।

"और तेल लाया ?"

"हाँ हुज़ूर लाया हूँ।"

"दिया ?"

"हुज़ूर वो जो तेल देने के छेद होते हैं, वो नहीं मिलते।"

"क्यों ?"

"हुज़ूर धुरों पे मैल और ज़ंग जमा है। वो सूराख़ कहीं बीच ही में दब-दबा गये हैं।"

धीरे-धीरे मैं उस चीज़ के क़रीब आया, जिसको मेरा नौकर बाइसिकिल बता रहा था। उसके विभिन्न पुर्ज़ों पर ग़ौर किया तब इतना तो साबित हो गया कि बाइसिकिल है। लेकिन उसकी सूरत से यह साफ़ जाहिर था कि हल और रहट और चर्खा और इसी तरह के अन्य नये आविष्कारों से पहले की बनी हुई है। पहिये को घुमा-घुमा कर वह सूराख़ तलाश किया, जहाँ किसी ज़माने में तेल दिया जाता था। लेकिन अब उस सूराख़ में से आने-जाने का सिलसिला बन्द था। चुनांचे नौकर बोला—"हुज़ूर, वह तेल तो सब इधर-उधर बह जाता है। बीच में तो जाता ही नहीं।"

मैंने कहा, "अच्छा ऊपर-ही-ऊपर डाल दो। यह भी फ़ायदा करता है।"

आख़िरकार बाइसिकिल पर सवार हुआ। पहला ही पाँव चलाया तो मालूम हुआ जैसे कोई मुर्दा अपनी हड्डियाँ चटखा कर अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ ज़िन्दा हो रहा है।

घर से निकलते ही कुछ थोड़ी-सी उतराई थी। उस पर बाइसिकिल अपने-आप चलने लगी। लेकिन उस रफ़्तार से जैसे तारकोल ज़मीन पर बहता है और साथ ही अनेक हिस्सों से तरह-तरह की आवाज़ें निकलने लगीं। उन आवाज़ों के विभिन्न सुर थे। चीं चाँ चूँ क़िस्म की आवाज़ें ज़्यादा तर गद्दी के नीचे और पिछले पहिये से निकलती थीं, खट, खड़ खड़ की तरह की आवाज़ें मडगार्डों से आती थीं, चर्र चर्रख, चर्रख की क़िस्म के सुर चेन और पैडिल से निकलते थे। चेन ढीली-ढीली थी। मैं जब कभी पैडिल पर ज़ोर डालता था, चेन में एक अंगड़ाई-सी पैदा होती थी, जिससे वह तन जाती थी और चड़ चड़ बोलने लगती थी और फिर ढीली हो जाती थी। पिछला पहिया घूमने के अलावा भूमता था; यानी एक तो आगे को चलता था और उसके साथ ही दाहिने से बायें और बायें से दाहिने को भी हरकत करता था। चुनांचे सड़क पर जो निशान पड़ जाता था, उसको देखकर ऐसा मालूम होता था जैसे कोई मस्त साँप लहराकर निकल गया है। मडगार्ड थे तो सही, लेकिन पहिया के बिलकुल ऊपर न थे। उनका फ़ायदा सिर्फ़ यह मालूम होता था कि इन्सान उत्तर की तरफ़ सैर को निकले और सूरज पच्छिम में डूब रहा हो तो मडगार्डों के कारण टायर धूप से बचे रहें। अगले पहिये के टायर में एक बड़ा-सा पेवन्द लगा था जिसके कारण पहिया हर चक्कर में एक बार क्षण भर को ज़ोर से ऊपर उठ जाता था और मेरा सिर पीछे को यों झटके खाता था, जैसे कोई लगातार ठोड़ी के नीचे मुक्के मारे जा रहा हो। पिछले और अगले पहिये को मिलाकर चूँ चूँ फट, चूँ चूँ फट....की आवाज़ निकल रही थी। जब उतार पर बाइसिकिल ज़रा तेज़ हुई तो वातावरण में एक भूचाल-सा आ गया और बाइसिकिल के कई और पुर्ज़े, जो अब तक सो रहे थे, जाग कर बोलने लगे। इधर-उधर के लोग चौंके। मांओं ने अपने बच्चों को सीनों से लगा लिया। खड़ड़-खड़ड़ के बीच में पहियों की आवाज़ अलग सुनाई दे रही थी। लेकिन चूँकि अब बाइसिकिल पहले से तेज़ थी इसलिए चूँ फट, चूँ फट, चूँ फट आवाज़ ने अब चचूँफट चचूँफट चचूँ-फट का रूप धारण कर लिया था। पूरी बाइसिकिल किसी क्लिष्ट अफ़रीक़

भाषा के वाक्य दोहरा रही थी ।

इस क़दर तेज़ रफ़्तारी बाइसिकिल के कोमल स्वभाव को भारी लगी, इसलिए उसमें एक दम दो तबदीलियाँ हो गयीं । एक तो हैंडिल एक तरफ़ को मुड़ गया, जिसका नतीजा यह हुआ कि मैं जा तो सामने को रहा था, लेकिन मेरा तमाम जिस्म दायें तरफ़ को मुड़ा हुआ था । इसके अलावा बाइसिकिल की गद्दी अचानक छः इंच के क़रीब नीचे बैठ गयी । चुनांचे जब पैडिल चलाने के लिए मैं टाँगें ऊपर नीचे कर रहा था तो मेरे घुटने मेरी ठोड़ी तक पहुँच जाते थे । कमर दोहरी होकर बाहर को निकली हुई थी और साथ ही अगले पहियों की अठखेलियों के कारण सर बराबर झटके खा रहा था ।

गद्दी का नीचा हो जाना बेहद तकलीफ़देह साबित हुआ । इसलिए मैंने मुनासिब यही समझा कि उसको ठीक करलूँ । चुनाचे मैंने बाइसिकिल को ठहरा लिया और नीचे उतरा । बाइसिकिल के ठहर जाने से एक दम जैसे दुनिया में एक ख़ामोशी-सी छा गयी । ऐसा मालूम हुआ जैसे मैं किसी रेल के स्टेशन से निकल कर बाहर आ गया हूँ । जेब से मैंने औज़ार निकाला, गद्दी को ऊँचा किया, हैंडिल को ठीक किया और दोबारा सवार हो गया ।

दस क़दम भी न चलने पाया था कि अबकी हैंडिल एकदम नीचा हो गया, इतना कि गद्दी अब हैंडिल से कोई फ़ुट भर ऊँची थी । मेरा तमाम जिस्म आगे को झुका हुआ था । तमाम बोझ दोनों हाथों पर था, जो हैंडिल पर रखे और बराबर झटके खा रहे थे । आप मेरी हालत की कल्पना करें तो आपको मालूम होगा कि मैं दूर से ऐसा लग रहा था जैसे कोई औरत आटा गूँध रही हो । मुझे इस बात का एहसास बहुत तेज़ था, जिसकी वजह से मेरे माथे पर पसीना आ गया । दायें बायें लोगों को कनखियों से देखता जाता था । यूँ तो हर आदमी मील भर पहले से ही मुड़-मुड़ कर देखने लगता था, लेकिन उनमें कोई भी ऐसा न था, जिसके लिए मेरी मुसीबत मन बहलाव का कारण न हो ।

हैंडिल तो नीचा हो ही गया था । थोड़ी देर के बाद गद्दी भी फिर नीची

हो गयी और मैं ज़मीन के और करीब पहुँच गया। एक लड़के ने कहा—"देखो, यह आदमी क्या कर रहा है?" गोया उस बदतमीज़ के नज़दीक मैं कोई करतब दिखा रहा था। मैंने उतर कर फिर हैंडिल और गद्दी को ऊँचा किया।

लेकिन थोड़ी देर के बाद उनमें से एक-न-एक फिर नीचा हो जाता। वो क्षण, जिनके दौरान मे मेरे हाथ और मेरा जिस्म दोनों बराबर एक ही ऊँचाई पर रहे हों, बहुत ही कम थे और मैं भी यही सोचता रहता था कि अब के गद्दी पहले बैठेगी या हैंडिल। चुनांचे निडर होकर न बैठता, बल्कि जिस्म को गद्दी से कुछ ऊपर ही रखता। लेकिन इससे हैंडिल पर इतना बोझ पड़ जाता कि वह नीचा हो जाता।

जब दो साल गुज़र गये और बाइसिकिल की उठक-बैठक ने एक नियमित रूप धारण कर लिया तो यह तय किया कि किसी मिस्त्री से पेच कसवा लेने चाहिएँ, चुनांचे बाइसिकिल को एक दुकान पर ले गया।

बाइसिकिल की खड़ खड़ खड़ से जितने लोग काम कर रहे थे, सब-के-सब सिर उठा कर मेरी तरफ़ देखने लगे। लेकिन मैंने जी कड़ा करके कहा, "ज़रा इसकी मरम्मत कर दीजिए।"

एक मिस्त्री आगे बढ़ा। लोहे की एक सलाख उसके हाथ में थी, जिससे उसने भिन्न-भिन्न हिस्सों को बड़ी बेदर्दी के साथ ठोक-बजा कर देखा। मालूम होता था, उसने बड़ी तेज़ी के साथ सब हालत का अन्दाज़ा लगा लिया है। लेकिन फिर भी मुझसे पूछने लगा, "किस किस पुर्ज़े की मरम्मत कराइएगा?"

मैंने कहा, "गुस्ताख हो तुम। देखते नहीं कि सिर्फ़ हैंडिल और गद्दी को ज़रा ऊँचा करवा के कसवाना है। बस और क्या। इनको मेहरबानी करके फ़ौरन ठीक कर दो और बताओ कितने पैसे हुए?"

मिस्त्री कहने लगा, "मडगार्ड भी ठीक न कर दूँ?"

मैंने कहा, "हाँ, वह भी ठीक कर दो।"

कहने लगा, "अगर बाक़ी चीज़ें भी ठीक करा लें तो अच्छा हो।"

मैंने कहा, "अच्छा कर दो।"

बोला, 'यूँ थोड़ी हो सकता है। दस-पन्द्रह दिन का काम है। आप इसे हमारे पास छोड़ जाइए।"

"और पैसे कितने लोगे ?"

कहने लगा, "बस तीस चालीस रुपये लगेंगे।"

हमने कहा, "बस जी, जो काम तुमसे कहा है, करो और बाक़ी हमारे मामलों में दख़ल मत दो।"

थोड़ी देर में हैंडिल और गद्दी फिर ऊँची करके कस दी गयी। मैं चलने लगा तो मिस्त्री ने कहा, "मैंने कस तो दिया है। लेकिन पेच सब घिसे हुए हैं। अभी थोड़ी देर में फिर ढीले हो जायेंगे।"

मैंने कहा, "एं, बदतमीज़ कहीं का। दो आने मुफ़्त में ले लिये ?"

बोला, "जनाब, आपको बाइसिकिल भी तो मुफ़्त मिली होगी। ये आपके दोस्त मिर्ज़ा साहब की है न ?....लल्लू, यह वही बाइसिकिल है जो पिछले साल मिर्ज़ा साहब यहाँ बेचने को लाये थे—पहचानी तुमने ? भई सदियाँ ही बीत गयीं, लेकिन इस बाइसिकिल की ख़ता माफ़ होने में नहीं आती।"

मैंने कहा, "वाह, मिर्ज़ा साहब के लड़के इस पर कॉलेज आया-जाया करते थे, और उनको अभी कॉलेज छोड़े दो साल भी नहीं हुए।"

मिस्त्री ने कहा, "हाँ, वह तो ठीक है। लेकिन मिर्ज़ा साहब ख़ुद जब कॉलेज में पढ़ते थे तो उनके पास भी तो यही बाइसिकिल थी।"

मेरी तबीयत यह सुनकर कुछ मुर्दा-सी हो गयी। मैं बाइसिकिल को साथ लिये आहिस्ता-आहिस्ता पैदल चल पड़ा। लेकिन पैदल चलना भी मुश्किल था। उस बाइसिकिल के चलाने में ऐसे-ऐसे पुट्ठों पर ज़ोर पड़ता था, जो आम बाइसिकिलों के चलाने में इस्तेमाल नहीं होते। इसलिए टाँगों और कंधों और कमर और बाँहों में जगह-जगह दर्द हो रहा था। मिर्ज़ा का ख़याल रह-रहकर आता था। लेकिन मैं हर बार कोशिश करके उसे दिल से हटा देता था। वरना मैं पागल हो जाता और पागलपन की हालत में पहला काम यह करता कि मिर्ज़ा के मकान के सामने बाज़ार में

एक जल्सा करता, जिसमें मिर्ज़ा की मक्कारी, बेईमानी और दग़ाबाज़ी पर एक लम्बी तक़रीर करता। कुल मानव जाति और आगे आने वाली नस्लों को मिर्ज़ा की नापाक फ़ितरत से आगाह कर देता और उसके बाद एक चिता जला कर उसमें ज़िन्दा जल मरता।

मैंने बेहतर यही समझा कि जिस तरह हो सके अब इस बाइसिकिल को औने-पौने दामों में बेच कर जो वसूल हो उसी पर सब्र-शुक्र करूँ। बला से दस-पन्द्रह रुपये का घाटा सही। चालीस-के-चालीस रुपये तो बरबाद न होंगे। रास्ते में बाइसिकिलों की एक और दुकान आयी तो मैं वहाँ ठहर गया।

दुकानदार बढ़ कर मेरे पास आया। लेकिन मेरी ज़बान को जैसे ताला लग गया था। उम्र भर कभी किसी चीज़ के बेचने की नौबत न आयी थी। मुझे यह भी मालूम नहीं कि ऐसे मौक़े पर क्या कहते हैं। आख़िर बड़े सोच-विचार और बड़े संकोच के बाद मुँह से सिर्फ़ इतना निकला, यह "बाइसिकिल है।"

दुकानदार कहने लगा, "फिर !"

मैंने कहा, "लोगे !"

कहने लगा, "क्या मतलब ?"

मैंने कहा, "बेचते हैं हम।"

दुकानदार ने मुझे ऐसी नज़र से देखा कि मुझे महसूस हुआ जैसे मुझ पर चोरी का शुबहा कर रहा है। फिर बाइसिकिल को देखा, फिर मुझे देखा, फिर बाइसिकिल को देखा। ऐसा मालूम होता था कि फ़ैसला नहीं कर सकता, आदमी कौन-सा है और बाइसिकिल कौन-सी है। आख़िर वह बोला, "क्या करेंगे आप इसको बेच कर ?"

ऐसे सवालों का ख़ुदा जाने क्या जवाब होता है। मैंने कहा, "क्या तुम यह पूछना चाहते हो कि जो रुपये मुझे वसूल होंगे उनका इस्तेमाल क्या होगा ?"

कहने लगा, "वह तो ठीक है। मगर कोई इसको ले कर करेगा क्या ?"

मैंने कहा, "इस पर चढ़ेगा और क्या करेगा ?"

कहने लगा, "अच्छा ! चढ़ गया, फिर ?"

मैंने कहा, "फिर क्या ? फिर चलायेगा और क्या ?"

दुकानदार बोला, "अच्छा ! हूँ ! खुदाबख्श, ज़रा यहाँ आना । यह बाइसिकिल बिकने आयी है ।"

जिन हज़रत का नाम खुदाबख्श था, उन्होंने बाइसिकिल को दूर ही से यूँ सूँघा, जैसे बू सूँघ रहे हों ।

इसके बाद दोनों ने आपस में सलाह की । आखिर में वो, जिनका नाम खुदाबख्श नहीं था, मेरे पास आये और कहने लगे, "तो आप सचमुच बेच रहे हैं ?"

मैंने कहा, "तो और क्या महज़ आपसे बात करने की इज़्ज़त हासिल करने के लिए मैं घर से यह बहाना घड़ कर लाया था ?"

कहने लगा, "क्या लेंगे आप ?"

मैंने कहा, "तुम्हीं बताओ !"

कहने लगा, "सच सच बताऊँ ?"

मैंने कहा, "हाँ ।"

फिर कहने लगा, "सच-सच बताऊँ ?"

मैंने कहा, "अब बताओगे भी या यूँही तरसाते रहोगे ?"

कहने लगा, "तीन रुपये दूँगा इसके ।"

मेरा खून खौल उठा, और मेरे हाथ, पाँव और होंठ गुस्से के मारे काँपने लगे । मैंने कहा, "ओ सनअत-ो-हिरफ़त (उद्योग धंधे) से पेट पालने वाले निचले तबक़े के इन्सान ! मुझे अपनी बेइज़्ज़ती की परवाह नहीं । लेकिन तूने अपनी बेहूदा बात-चात से इस बेज़बान चीज़ को जो दुख पहुँचाया है, उसके लिए मैं तुझे क़ियामत तक माफ़ नहीं कर सकता ।" यह कह कर मैं बाइसिकिल पर सवार हो गया और अंधाधुंध पाँव चलाने लगा ।

मुश्किल से बीस क़दम गया होऊँगा कि मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे ज़मीन एकदम उछल कर मुझसे आ लगी है । आसमान मेरे सर पर से हट कर मेरी टाँगों के बीच में से गुज़र गया है और इधर-उधर की इमारतों

ने एक दूसरे के साथ अपनी-अपनी जगह बदल ली है। हवास ठीक हुए तो मालूम हुआ, मैं ज़मीन पर इस बेतकल्लुफ़ी से बैठा हूँ, जैसे बड़ी मुद्दत से मुझे इस बात का शौक़ था जो आज पूरा हुआ। इर्द-गिर्द कुछ लोग जमा थे, जिनमें से अक्सर हँस रहे थे। सामने वह दुकान थी, जहाँ अभी-अभी मैंने अपनी नाकाम बात-चीत का सिलसिला तोड़ा था। मैंने अपने आस-पास देखा तो मालूम हुआ कि मेरी बाइसिकिल का अगला पहिया बिलकुल अलग हो कर लुढ़कता हुआ सड़क के उस पार जा पहुँचा है और बाक़ी बाइसिकिल मेरे पास पड़ी है। मैंने झट अपने आपको सम्हाला। जो पहिया अलग हो गया था उसको एक हाथ में उठाया, दूसरे हाथ में बाक़ी बची बाइसिकिल को थामा और चल खड़ा हुआ। यह महज़ एक अनायास क्रिया थी। वरना सच कहता हूँ मुझे वह बाइसिकिल इतनी प्यारी न थी कि मैं उसको इस हालत में साथ-साथ लिये फिरता।

जब मैं यह सब कुछ उठा कर चल दिया तो मैंने अपने-आप से पूछा कि यह तुम क्या कर रहे हो? कहाँ जा रहे हो? तुम्हारा इरादा क्या है? ये दो पहिये काहे को ले जा रहे हो?

सब सवालों का जवाब यही मिला कि देखा जायगा। फ़िलहाल तुम यहाँ से चल दो। सब लोग तुम्हें देख रहे हैं। सर ऊँचा रखो और चलते जाओ। जो हँस रहे हैं, उन्हें हँसने दो। इस क़िस्म के बेहूदा लोग हर क़ौम और हर मुल्क में पाये जाते हैं। आख़िर हुआ क्या? महज़ एक दुर्घटना! बस, दायें-बायें मत देखो, चलते जाओ।

लोगों की बेहूदा बातें भी सुनायी दे रही थीं। एक आवाज़ आयी, "बस हज़रत, ग़ुस्सा थूक डालिए।" एक दूसरे साहब बोले, "बेहया बाइ-सिकिल! घर पहुँच कर तुझे मज़ा चखाऊँगा।" एक बाप अपने जिगर के टुकड़े की उँगली पकड़े जा रहे थे। मेरी तरफ़ इशारा करके कहने लगे, "देखा बेटा, यह सरकस की बाइसिकिल है। इसके दोनों पहिये अलग-अलग होते हैं।"

लेकिन मैं चलता गया। थोड़ी देर के बाद मैं आबादी से दूर निकल

गया। अब मेरी चाल में एक विश्वास पाया जाता था। मेरा दिल, जो कई घंटों से एक कशमकश में पेच-ताब खा रहा था, अब बहुत हल्का हो गया था। मैं चलता गया, चलता गया, यहाँ तक कि दरिया पर जा पहुँचा। पुल के ऊपर खड़े हो कर मैंने दोनों पहियों को एक-एक करके इस बेपरवाही के साथ दरिया में फेंक दिया, जैसे कोई लेटर बक्स में खत डालता है, और शहर को लौट पड़ा।

सब से पहले मिर्ज़ा के घर गया। दरवाज़ा खटखटाया। मिर्ज़ा बोले, "अन्दर आ जाओ।"

मैंने कहा, "आप ज़रा बाहर तशरीफ़ लाइए। आप जैसे खुदा तक पहुँचे बुज़ुर्ग के घर में वज़ू किये बग़ैर कैसे दाखिल हो सकता हूँ।"

मिर्ज़ा बाहर तशरीफ़ लाये तो मैंने वह औज़ार उनकी खिदमत में पेश किया, जो उन्होंने बाईसिकिल के साथ ही मुझको मुफ़्त इनायत फ़रमाया था और कहा, "मिर्ज़ा साहब, आप ही इस औज़ार से शौक़ फ़रमाया कीजिए। मुझे अब इसकी ज़रूरत नहीं रही।"

घर पहुँच कर मैंने फिर कैमिस्ट्री की उस किताब को पढ़ना शुरू कर दिया, जो मैंने एफ़० ए० में पढ़ी थी।
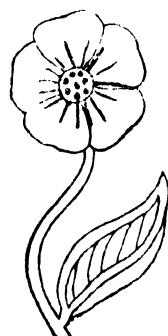
इम्तियाज़ अली ताज

●●●

चचा छक्कन ने सब के लिए केले ख़रीदे

एक बात मैं शुरू में ही कह दूँ। इस घटना के बयान करने से मेरा यह मतलब बिलकुल नहीं कि इससे चचा छक्कन की आदत के जिस पहलू पर रोशनी पड़ती है, उसके बारे में आप कोई पक्की राय बना लें। सच तो यह है कि चचा छक्कन का इस तरह का कारनामा मुझे सिर्फ़ यही एक मालूम है। न इससे पहले कोई ऐसी घटना मेरी नज़र से गुज़री और न बाद में। बल्कि ईमान की पूछिए तो इसकी उल्टी घटनाएँ बड़ी गिनती में मेरे देखने में आ चुकी हैं। बहुत बार मैं देख चुका हूँ कि शाम के वक़्त चचा छक्कन बाज़ार से कचौड़ियाँ या गँडेरियाँ या चिलग़ोज़े और मूँगफलियाँ एक बड़े-से रूमाल में बाँध कर घर भर के लिए ले आये हैं और फिर क्या बड़ा, क्या छोटा हर एक को बराबर बाँट कर खाते-खिलाते रहे हैं। पर उस दिन न जाने क्या बात हुई कि....मगर उसी का ब्योरा तो मैं देने जा रहा हूँ।

उस दिन तीसरे पहर के वक़्त संयोग से चचा छक्कन और बुन्दू के सिवा कोई भी घर पर मौजूद न था। मीर मुन्शी साहब की बेगम को जाड़ा

बुखार आ रहा था। चची दोपहर के खाने से छुट्टी पा कर उनके यहाँ हाल पूछने चली गयी थीं। बन्नो को घर छोड़े जा रही थीं कि चचा ने फ़रमाया, "बीमार को देखने जा रही हो तो शाम से पहले क्या लौटना होगा। बच्ची पीछे घबरायेगी। साथ ले जातीं। वहाँ बच्चों में खेल कर बहली रहेगी।" चची बड़बड़ाती हुई बन्नो को साथ ले गयीं। इमामी चची को मीर मुन्शी साहब के घर तक पहुँचाने जा रहा था। मगर बन्नो साथ कर दी गयी तो बच्ची के खयाल से उसे भी वहीं ठहरना पड़ा।

लल्लू के मदरसे का डी० ए०वी० स्कूल से क्रिकेट मैच था। वह सुबह से उधर गया हुआ था। मोदे की राय में लल्लू अपनी टीम का बेहतरीन खिलाड़ी है। अपनी इस राय की वजह से उसे क्रिकेट के अक्सर मैचों का तमाशाई बनने का मौक़ा मिल जाता है। आज भी वह लल्लू के साथ गया हुआ था।

दो बजे से सिनेमा का मेटनी शो था। दद्दू चचा से इजाज़त ले कर तमाशा देखने जा रहा था। छुट्टन को जो पता लगा कि दद्दू तमाशे में जा रहा है तो ठीक वक़्त पर वह मचल गया और साथ जाने की ज़िद करने लगा। चचा ने उसकी शिक्षा-दीक्षा के पहलुओं पर चची का हवाला दे-दे कर एक छोटा-सा लेकिन क़ाबलियत-भरा लेक्चर देते हुए उसे भी इजाज़त दे दी। असल बात यह है कि चची कहीं मुलाक़ात को गयी हों तो बाक़ी लोगों को बाहर जाने के लिए चचा से इजाज़त ले लेने में कोई कठिनाई नहीं होती। ऐसे नादिर मौक़ों में चचा पूरी तनहाई को ज़्यादा पसन्द करते हैं। दूसरे कामों ने जिन बातों की तरफ़ चची को अरसे से ध्यान देने की इजाज़त नहीं दी होती, ऐसे वक़्त चचा ढूँढ़-ढूँढ़ कर उन की तरफ़ ध्यान देते हैं। इससे चची को यह जताना होता है कि घर की मशीन में उनकी हस्ती एक बेकार पुरज़े से ज़्यादा महत्व नहीं रखती और यह चचा के ही दम का ज़हूरा है कि देखने वाले को घर में सुघड़ापे के कुछ आसार नज़र आते हैं।

आज चचा के दिमाग़ ने चची की ग़ैर-हाज़िरी में घर के तमाम ऐसे बर्तन, जो पीतल के थे, सहन में जमा कर लिये थे। बुन्दू को बाज़ार भेज कर दो पैसे की इमली मँगायी थी। सहन में मोंढा डाल कर बैठ गये थे।

पाँव मोंढे के ऊपर रखे हुए थे। हुक्के की नाल मुँह से लगी हुई थी। निजी देख-रेख में पीतल के बर्तनों की सफ़ाई की तैयारी हो रही थी।

"अरे अहमक़! अब दूसरा बर्तन क्या होगा। जो बर्तन साफ़ करने हैं उन्हीं में से किसी एक में इमली भिगो डाल...और क्या, यों....बस यही पीतल का लोटा काम दे जायगा। साफ़ तो उसे करना ही है। एक दूसरा बर्तन ला कर उसे खराब करने से फ़ायदा! ऐसी बातें तुम लोगों को खुद क्यों नहीं सूझ जातीं?"

बुन्दू ने हुक्म पा कर, कुछ कहे बग़ैर इमली लोटे में भिगो दी। चचा ने गर्व से इत्मीनान ज़ाहिर किया—"कैसी बताई तरकीब? ज़रूरत भी पूरी हो गयी और अपना....यानी काम भी एक हद तक हो गया। ले बावर्चीखाने जा कर बर्तन माँजने को थोड़ी-सी राख ले आ। किस बर्तन में लायेगा भला?"

बुन्दू ने बड़ी समझदारी से तमाम बर्तनों पर निगाह डाली और उनमें से एक सीनी उठा कर चचा की तरफ़ देखने लगा। चचा भी इस काम के लिए शायद सीनी ही बतलाना चाहते थे। अपनी तरफ़ से हिदायत देने का मौक़ा न मिल सका तो पूछने लगे, "क्यों भला?"

बुन्दू बोला, "चूल्हे से उठा कर इसमें आसानी से राख रख लूँगा।"

"अहमक़ कहीं का। इसके अलावा खुले बर्तन में राख होगी तो उठा-उठा कर बर्तन माँजने में आसानी न होगी?"

बुन्दू अभी बावर्चीखाने से राख लाने न पाया था कि दरवाज़े पर एक फल वाले ने आवाज़ लगायी। कलकतिया केले बेचने लाया था। उसकी आवाज़ सुन कर कुछ देर तो चचा चुप बैठे हुक़्क़ा पीते रहे। कश अलबत्ता जल्दी-जल्दी लगा रहे थे। मालूम होता था, दिमाग़ में किसी क़िस्म की खींच-तान चल रही है। जब आवाज़ से मालूम हुआ कि फल वाला वापस जा रहा है तो जैसे बेबस-से हो गये। बुन्दू को आवाज़ दी, "ज़रा जा कर देखियो तो, केले किस हिसाब देता है?"

बुन्दू ने वापस आ कर बताया, "छः आने दर्जन!"

"छः आने दर्जन; तो क्या मतलब हुआ, कि चौबीस पैसे के बारह। बारह दूनी चौबीस यानी दो पैसे का एक। ऊँहूँ, मँहगे हैं। जा कर कहो तीन पैसे के दो देता है तो दे जाय।"

दो मिनट बाद बुन्दू ने आ कर कहा कि मान गया केले वाला! कितने के केले लेने हैं?

फल वाला इस आसानी से राज़ी हो गया तो चचा की नियत में फ़ितूर आया।

"यानी तीन पैसे के दो केले? क्या ख़याल है, मँहगे नहीं हैं इस भाव में?"

बुन्दू बोला, "अब तो उससे फ़ैसला हो गया।"

"तो क्या किसी अदालत का फ़ैसला है कि इतने ही भाव पर केले लिये जायँ! हम तो तीन आने दर्जन लेंगे। देता है दे, नहीं देता है न दे। वह अपने घर ख़ुश, हम अपने घर ख़ुश।"

बुन्दू असमंजस में खड़ा रहा।

"अबे तू जा कर कह तो सही। मान जायगा।"

बुन्दू जाने से कतरा रहा था, "आप ख़ुद कह दीजिए।"

चचा ने जवाब में आँखें फाड़ कर बुन्दू को घूरा, वह बेचारा डर गया, लेकिन अब भी वहीं खड़ा रहा। चचा को उसका असमंजस किसी हद तक उचित मालूम हुआ। उसे दलील का रास्ता समझाने लगे, "तू जा कर यह कह कि मियाँ ने तीन आने दर्जन ही कहे थे। मैंने आ कर ग़लत भाव कह दिया। तीन आने दर्जन देने हों तो दे जा।"

बुन्दू जी कड़ा करके बाहर चला गया।

चचा जानते थे भाव ठहरा कर उससे मुकर जाने पर केले वाला शोर मचायगा। बाहर निकलना भी ठीक न मालूम होता था। दबे पाँव अन्दर गये और कमरे की जो खिड़की ड्योढ़ी में खुलती थी, उसका पट ज़रा-सा खोल कर बाहर झाँकने लगे। फल वाला गर्म हो रहा था, "आप ही ने तो एक भाव ठहराया और आप ही ज़बान से फिर गये। बहाना नौकर

की भूल का, जैसे हम समझ नहीं सकते। या बेईमानी तेरा ही आसरा!"

बुन्दू बेचारा चुपका खड़ा था। फल वाला बकता-झकता झाबी उठा कर चलने लगा। बुन्दू भी अन्दर जाने को मुड़ गया। दरवाज़े तक पहुँचने न पाया था कि फल वाला रुक गया। झाबी उतार कर बोला—"कितने लेने हैं?"

बुन्दू अन्दर आया तो चचा मोंढे पर बैठे जैसे किसी खयाल में मगन हुक्क़ा पी रहे थे। चौंक कर बोले, "मान गया? हम कहते थे न, मान जायगा। हम तो इन लोगों की रग-रग पहचानते हैं। तो कै केले लेने ठीक होंगे?" चचा ने उँगलियों पर गिन-गिन कर हिसाब लगाया—"हम खुद, छुट्टन की माँ, लल्लू, दद्दू, बन्नो और छुट्टन गोया छः। छः दूनी क्या हुआ? खुदा तेरा भला करे बारह! यानी एक दर्जन। फ़ी आदमी दो केले बहुत होंगे फल से पेट तो भरा नहीं जाता, मुँह का ज़ायक़ा बदला जाता है! पर देखियो, दो-तीन गुच्छे अन्दर ले आना। हम आप उनमें से अच्छे-अच्छे केले छाँट लेंगे।"

फल वाले ने नाक-भौं सिकोड़ते हुए केलों के गुच्छे अन्दर भेज दिये। चचा ने केलों को दबा-दबा कर देखा। उनकी चित्तियों का निरीक्षण किया और दर्जन भर केले अलग कर लिये। केले वाला बाकी केले लिये बड़-बड़ाता हुआ चला गया। चचा ने बुन्दू की ओर ध्यान दिया। बोले, "ले इन्हें खाने की डोली में हिफ़ाज़त से रख दे। रात के खाने पर ला कर रखना। और जल्दी से आ कर बर्तन माँजने के लिए राख ला। बड़ा वक़्त बरबाद हो गया इस क़िस्से में।"

बुन्दू केले रख आया और बावर्चीखाने से राख ला कर बर्तन माँजने लगा—"यों....ज़रा ज़ोर से हाथ....ताकि बर्तन पर रगड़ पड़े, इस तरह! पीतल के बर्तन साफ़ करने के लिए ज़रूरत इस बात की होती है कि इमली के इस्तेमाल से पहले उन्हें एक बार खूब अच्छी तरह माँज कर साफ़ कर लिया जाय। ऐसे बर्तनों के लिए इमली निहायत लाजवाब नुस्खा है। गिरह में बाँध रख। किसी दिन काम आयगा। और एक पीतल ही का क्या ज़िक्र,

धात की सभी चीज़ें इमली से दमक उठती हैं। अभी-अभी तू आप देखियो कि इन काले बर्तनों की सूरत क्या निकल आती है। हाँ !....हाँ हाँ, वह मैंने कहा, केले एहतियात से रख दिये हैं न ? डोली में ? हूँ ! अच्छे भाव मिल गये। एक-एक के लिए दो-दो ठीक रहेंगे ?....यों, बस, मँज गया। अब रगड़ इस पर इमली। इस तरह ! देखा मैल किस तरह कटती है ? कैसी चमक आती जा रही है ? यह इमली दर-असल बड़ी बेनज़ीर चीज़ है। मगर मैंने कहा, बुन्दू, मेरे भाई, ज़रा उठियो तो। उन केलों में से दो जो हमारे हिस्से के हैं, हमें ला दीजियो।। हम अभी खाये लेते हैं। बाक़ी लोग जब आयेंगे, अपना हिस्सा खाते रहेंगे।"

बुन्दू ने उठ कर दो केले चचा को ला दिये। चचा ने मोंढे पर उकड़ूँ बैठे-बैठे पैंतरा बदला और केलों को थोड़ा-थोड़ा छीलना और तकल्लुफ़ से खाना शुरू किया।

"तू किये जा अपना काम। ज़रा झपाटे से। देखना अब ज़रा देर में इन बर्तनों की क्या शकल निकल आती है।....अच्छे हैं केले... बस योंही, ज़रा ज़ोर से हाथ....इस तरह....छुट्टन की अम्माँ देखेंगी तो समझेंगी, आज ही नये बर्तन खरीद किये हैं। और फिर लुत्फ़ यह कि हड़ लगे न फिटकरी और रङ्ग चोखा आये। आखिर कितने की आ गयी इमली ?....न-न....खुद ही कहो कितने की आयी इमली ? दो पैसे की न ? तू आप खरीद कर लाया था और फिर जो कुछ किया तूने अपने हाथ से किया है। यह तो हुआ नहीं कि तुझसे आँख बचा कर हमने बीच में कुछ मिला दिया हो। बस यह जितनी भी करामात है, सिर्फ़ इमली की है, महज़ इमली की ! और, वह मैंने कहा, अब कै केले बाक़ी रह गये हैं ? दस ? हूँ....खूब चीज़ है न इमली ! एक टके के खर्च में चीज़ों की काया-पलट हो जाती है। मगर बुन्दू अब इन दस केलों का हिसाब बैठेगा किस तरह ? यानी हम न शरीक हों जब तो हर एक को दो-दो केले मिल रहे हैं। लेकिन हमारी शिरकत के बिना शायद दूसरों का भी खाने को जी न चाहे। क्यों ? छुट्टन की अम्माँ तो हमारे बिना नज़र उठा कर भी न देखना चाहेंगी। तूने खुद देखा होगा। कई बार ऐसा हो

चुका है। और बच्चों में भी दूसरे हज़ार ऐब हों पर इतनी खूबी ज़रूर है कि नदीदे और लालची नहीं हैं। सब ने मिल कर हमको शरीक करने के लिए हठ शुरू कर दिया तो बड़ी दिक़्क़त होगी। बराबर बाँटने को केले काटने पड़ेंगे, और कलकतिया केले की हैसियत ही क्या होती है। काटने में सब की मिट्टी पलीद होगी। कै केले बताये थे तूने ? दस ! दस केले और छः आदमी। टेढ़ी बात है। मगर हम कहते हैं, मसलन फ़ी आदमी एक-एक का हिसाब रख दिया जाय तो ? दो-दो न सही एक ही हो। मगर खायें तो सब हँसी-खुशी मिल-जुल कर। ठीक है न ? गोया छः रख छोड़ने ज़रूरी हैं। तो इस सूरत में कै केले ज़रूरत से ज़्यादा हुए ? चार न ? हूँ, तो मेरे खयाल में वो चारों फ़ालतू केले लेता आ। बाक़ी बचे छः, तब तो ठीक हिसाब हो जायगा।"

बुन्दू उठ कर चार केले ले आया। चचा ने इत्मीनान से उन्हें खाना शुरू कर दिया।

"हाँ, तो तू क़ायल भी हुआ इमली की करामात का ? अनगिनत फ़ायदों की चीज़ है। मगर क्या कीजिए। इस ज़माने में देश की चीज़ों की तरफ़ कोई ध्यान नहीं देता। यही इमली अगर विलायत से डिब्बों की शक्ल में आती तो जनाब, लोग इस पर टूटे पड़ते। हर घर में इसका एक डिब्बा मौजूद रहता। मगर चूँकि पंसारी की दुकान से मिल जाती है, कोई खातिर में नहीं लाता। और फिर बर्तनों की सफ़ाई का क्या ज़िक्र। इसके और भी तो बहुत से फ़ायदे हैं। यानी सर के दर्द की शिकायत के लिए इससे बेहतर चीज़ सुनने में नहीं आयी। और फिर यह भी नहीं कि कड़वी कसैली हो या बदमज़ा बदबूदार हो। शरबत बनाइए, खटमिट्ठा। ऐसा मज़ेदार होता है कि क्या कहिए।....केले भी बड़े मज़ेदार हैं, ज़्यादा न ले लिये तूने ! इमली का शरबत तो शायद तूने भी पिया हो। कैसा ज़ायक़ेदार होता है। गर्मियों में तो नेमत है, और फिर मज़ा यह है कि फ़ायदा भी बेहद करता है। इमतले को यह रोकता है। इमतला नहीं जानता ? अरे अहमक़ मतली की शिकायत को इमतला कहते है। इसके अलावा सफ़रा के लिए भी वह

फ़ायदा करती है। सफ़रा (पित्त) भी एक चीज़ होती है। फिर कभी समझायेंगे।....तो वो केले तो अब छः ही बाक़ी रह गये हैं। कुछ नहीं, बस ठीक है। सबके हिस्से में एक-एक आ जायगा। हमें हमारे हिस्से का मिल जायगा। दूसरों को अपने-अपने हिस्से का, हमें हमारे हिस्से का। काट-छाँट का झगड़ा तो खतम हुआ। अपने-अपने हिस्से का केला लें और जो जी चाहे करें। जी चाहे आज खायँ, आज जी न चाहे तो कल खा लें। और क्या। होना भी यही चाहिए। जब जी न चाहे और कोई चीज़ खायी जाय तो वह बदन को नहीं लगती। यानी अकारथ चली जाती है। कोई चीज़ आदमी उसी वक़्त खाये जब उसके खाने को जी चाहे। छुट्टन की अम्माँ की हमेशा से यही आदत है। जी चाहता है तब कोई चीज़ खाती हैं। न चाहे तो कभी हाथ नहीं लगातीं। हमारा अपना भी यही हाल है। ये फुटकर चीज़ें खाने को कभी-कभार ही जी चाहता है। होना भी ऐसा ही चाहिए। अब यही केले हैं। बीसियों दफ़ा दुकानों पर रक्खे देखे, कभी जी न चाहा। आज जी चाहा तो खाने बैठ गये। अब फिर न जाने कब जी चाहे। हमारी तो कुछ ऐसी तबीयत है। न जाने शाम को जब तक सब आयें, ख्वाहिश रहे न रहे, यक़ीन से क्या कहा जा सकता है। दिल ही तो है। हो सकता है उस वक़्त केले के नाम से ही तबीयत को नफ़रत हो। तो ऐसी सूरत में हम समझते हैं कि बाक़ी छः केलों में से अपने हिस्से का एक केला अभी खा लेते हैं। क्यों, और क्या अपनी-अपनी तबीयत है, अपनी-अपनी भूख ! जब जिस का जी चाहे खाय। इसमें तकल्लुफ़ क्या। ऐसे मामलों में तो बेतकल्लुफ़ी ही अच्छी—

ऐ 'ज़ौक़' तकल्लुफ़ में है तकलीफ़ सरासर
आराम से वो हैं जो तकल्लुफ़ नहीं करते।

तो ज़रा उठियो मेरे भाई, बस मेरे ही हिस्से का केला लाना। बाक़ी सब वहीं एहतियात से रक्खे रहें।"

हुक्म पा कर बुन्दू ने एक केला चचा को ला दिया। चचा छील कर खाने लगे।

"देखा, क्या सूरत निकल आयी बर्तनों की। सुब्हान अल्लाह! यह इमली का नुस्ख़ा असर ही ऐसा रखता है। अब इन्हें देख कर कोई कह सकता है कि पुराने बर्तन हैं। जो देखेगा, यही समझेगा कि अभी बाज़ार से मँगवा कर रखे हैं। दूसरों का क्या ज़िक्र, हमारी ग़ैर-हाज़िरी में यों साफ़ किये गये होते तो वापस आ कर हम खुद न पहचान सकते। छुट्टन की अम्माँ भी देखेंगी तो एक बार तो ज़रूर चौंक पड़ेंगी। तुझसे पूछें तो कह दीजियो मियाँ सारी दोपहर बैठ कर साफ़ कराते रहे हैं। पर एक बात है, इमली का ज़िक्र न आने पाये। हाँ, ऐसी बात बता दी तो काम की अहमियत नहीं रहती। समझ गया न? बस. अब यह इमली की बात आगे न निकलने पाये। जो पूछे, यही कहियो कि मियाँ ने एक नुस्ख़ा बना कर उससे साफ़ कराये हैं। बच्चों से भी ज़िक्र न करना, नहीं तो निकल जायगी बात।....कब तक आयेंगे बच्चे? लल्लू का मैच तो शायद शाम से पहले ख़त्म न हो। उसके खाने-चाय का इन्तज़ाम टीम वालों ही ने कर दिया होगा। नहीं तो खाली पेट क्रिकेट किससे खेला जाता है। कोई इन्तज़ाम न होता तो मोदे को भेज कर वहीं खाना मँगवा सकता था। खूब तर माल उड़ाया होगा आज। मेवे-मिठाई से टमाटस पेट भर लिया होगा। चलो क्या मुज़ायक़ा है। यही उमर खाने-पीने की है। और फिर घर के दूसरे लोग तर माल उड़ायें तो वह ग़रीब क्यों पीछे रहे? दद्दू और छुट्टन तो टिकट के दाम के साथ खाने-पीने के लिए भी पैसे ले कर गये हैं, और क्या? वहीं किसी दुकान पर मेवा-मिठाई उड़ा रहे होंगे। ख़ुदा ख़ैर करे। ज़्यादा खा-खा कर कहीं बदहज़मी न कर लायें। साथ कोई रोक-टोक करने वाला नहीं है। तरद्दुद होता है। बन्नो का तो यह है कि माँ साथ है, वह खयाल रखेगी कि कहीं ज़्यादा न खा जाय। मगर मैं कहता हूँ, केले आज हमने बड़े बेमौक़ा लिये। उस वक्त ख़याल ही नहीं आया कि आज तो ये सब बड़े-बड़े माल उड़ा रहे होंगे। केलों को क्यों ख़ातिर में लाने लगे। और तूने भी याद न दिलाया, नहीं तो क्यों लेते इतने बहुत से केले? बेकार ख़राब होंगे। रात में रखे रह गये तो एक भी बाक़ी न रहेगा सड़ने से। या सूख

कर काले पड़ जायँगे। मगर अपनी करनी का इलाज ही क्या? अब ख़रीद जो लिये। क्या किया जाय? किसी-न-किसी तरह तो ठिकाने लगाना ही पड़ेंगे। फेंके तो जा नहीं सकते। फिर ले आ न यहीं, मैं ही उन्हें ख़त्म कर डालूँ।"
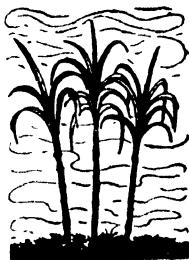
शौकत थानवी

●●●

छलाँग

लाहौर पहुँच कर सीधा मसऊद के घर पहुँचा तो वो हज़रत ग़ायब थे। मालूम हुआ कि कहीं घूमने गये हैं। ख़ैर, वो घूमने जायँ अथवा जहन्नुम में, घर तो उनका मौजूद ही था। सामान रख कर अत्यन्त सन्तोष से नहाया-धोया। कपड़े बदले और उनके नौकर से कहा—"चाय लाओ!"

यह नौकर भी कोई नया जानवर ही फँसा था शायद। एक तो वह ऊपर से ले कर नीचे तक ऐसी नज़रों से मुझे देख रहा था जैसे मैं उसके स्वामी का अतिथि नहीं, बल्कि कोई उचक्का हूँ और इस घर से कुछ-न-कुछ उठाने वाला ही हूँ। दूसरे, ऐसा मालूम होता था जैसे यह व्यक्ति आज तक किसी सभ्य आदमी के यहाँ नहीं रहा और मसऊद को भी इसे इन्सान बनाने का अवसर नहीं मिला।

जब उस नौकर ने बनी-बनायी चाय ला कर तिपाई पर मेरे सामने रख दी तो मैंने पहले तो आश्चर्य-चकित हो उस बेहूदा चाय को देखा और फिर चाय लाने वाले उस नामाकूल को। किन्तु वह तो स्वयं खा जाने

वाली नज़रों से मुझे देख रहा था—घूर रहा था। मैंने उससे बहुत-कुछ कहना चाहा। लेकिन बड़ी मुश्किल से केवल यही कह सका—"यह क्या है?"

उसने जले-भुने अन्दाज़ से कहा, "चाय है, और हो ही क्या सकती है?"

मैंने अब ज़रा और स्पष्ट कहा, "चाय तो है लेकिन गिलास में?"

उसने तुरन्त उत्तर दिया, "और नहीं तो क्या घड़े में लाता?"

अब मैंने अपने विषय में कुछ कहना उचित न समझ कर कहा, "क्या मसऊद गिलास में चाय पीने लगे हैं?"

उसने बड़ी रुखाई से कहा, "वो नहीं पीते चाय-वाय। वो लस्सी पीते हैं।"

अब मैं उस नौकर के मुँह क्या लगता। उससे कह दिया कि यह चाय ले जाओ। फिर ख़ुद मसऊद के ही बिस्तर पर लेट कर मैं उसकी प्रतीक्षा करने लगा। पास ही पिछले मास की किसी तारीख़ का कोई फटा-सा समाचार-पत्र पड़ा था। देर तक उसी को देखता रहा। उसमें प्रकाशित पहेली हल कर डाली। उसके विज्ञापन तक पढ़ डाले। लेकिन मसऊद को न आना था, वह न आया। आख़िर मैं उठा और सोचा कि शायद और कोई पढ़ने की चीज़ मिल जाय। आलमारी की तलाशी लेना ही चाहता था कि नुमाइश का 'पास' सामने ही रखा नज़र आया। बस, फ़ौरन यह प्रोग्राम बना लिया कि यहाँ पड़े-पड़े प्रतीक्षा करने की बजाय जा कर नुमाइश ही देख आऊँ। इतनी देर में मसऊद भी घर आ जायगा। वह पास उठा कर जेब में रखा और जंगली नौकर से नुमाइश का पता पूछ कर नुमाइश जा पहुँचा।

गेट पर वह पास दिखा कर अन्दर जाना ही चाहता था कि गेट-कीपर ने पास पर लिखा हुआ नाम पढ़ कर जैसे कुछ चौंकते हुए कहा, "तो आप ही हैं प्रो० मसऊद?"

स्पष्ट है कि ऐसे मौके पर केवल झूठ ही बोला जा सकता है। अन्यथा

यह प्रश्न उठता है कि आप प्रो० मसऊद नहीं हैं तो उनके नाम का पास क्यों लाये ? इसलिए ढीठ बन कर मैंने कहा, "अब मैं अपने मुँह से क्या अर्ज़ करूँ ?"

गेट-कीपर मुझे उत्तर देने की बजाय चीख़ने लगा—"चौधरी साहब ! ये आ गये हैं प्रो० मसऊद !"

और इस आवाज़ पर एक बुज़ुर्ग ने लपक कर मेरी बाँह थाम ली और मुझे अपनी ओर घसीटते हुए कहा—"अरे साहब, कमाल कर दिया आपने भी ! आज नुमाइश का पहला दिन है और आपने आज ही सारा कार्यक्रम गड़बड़ कर डाला। अगर कुछ और देर हो जाती तो क्या होता ? लोग आपकी प्रतीक्षा में हैं और आप ग़ायब !" वह कहते जा रहे थे और घसीटे चले जाते थे। अपनी कहते थे और दूसरे की सुनने को तैयार न थे। आख़िर एक खेमे में ले जा कर सर्कस के मसख़रों वाला लिबास उन्होंने मेरी ओर बढ़ा कर कहा—"बस, अब चुटकी बजाते तैयार हो जाइए। मैं तब तक लाउड स्पीकर पर एलान कराता हूँ कि आप पहुँच गये हैं। आपको लेने तो नुमाइश के मैनेजर ख़ुद दौड़ गये हैं आपके घर।"

मैंने वह मसख़रों वाला लिबास ग़ौर से देख कर कहा,

"मगर मुझे बताइए तो सही कि बात क्या है ?"

वो घबराहट के साथ बोले, "अब बात वात बाद में बतलायी जायगी। पहले आप ये कपड़े पहनिए—जल्दी से ! कमाल कर दिया आपने भी ! ज़रा तो वक़्त की पाबन्दी रखनी चाहिए इन्सान को और अब भी आप खड़े हमारा मुँह देख रहे हैं ! ख़ुदा के लिए अब देर न कीजिए। लाइए, मैं उतारता हूँ आपके कपड़े।"

और इससे पहले कि मैं कुछ कहूँ, उन महाशय ने मेरी शेरवानी उतार कर एक ओर उछाल दी और झपटे कमीज़ की तरफ़। मैंने ज़रा बचाव का प्रयास किया और अर्ज़ किया, "जनाब, आप सिर्फ़ एक बात सुन लीजिए।"

वो घबरा कर बोले, "कमाल करते हैं आप ! यानी आपको बातों की पड़ी है और वहाँ दर्शकों के समूह में नुमाइश के प्रबन्धकों की हँसी उड़ायी

जा रही है। पहले ही दिन अगर हमारी हवा बिगड़ गयी तो किसी को मुँह दिखाने लायक न रहेंगे।

अब मैंने उनसे कहा, "सुनिए जनाब! मैं यह मसख़रों का लिबास हरगिज़ न पहनूँगा।"

वो आस्तीन चढ़ा कर बोले, "पहनेंगे तो आपके फ़रिश्ते भी! हम आप से यह शर्त तो पहले से तय कर चुके हैं कि आपको यह लिबास भी पहनना पड़ेगा। और चेहरे पर भी खड़िया का लेप कर काली लकीरें खींचनी पड़ेंगी।"

मैंने कहा, "मैं आप से एक बात अर्ज़ कर दूँ कि मैं वास्तव में..."

वो एकदम कड़क कर बोले, "मालूम होता है, सीधी उँगली घी न निकलेगा! अजीब आदमी मालूम होते हैं। आपको ज़रा भी ख़याल नहीं कि हमारी किस तरह हँसी उड़ रही है। हमें धोखेबाज़ समझा जा रहा है कि हम विज्ञापन कुछ देते हैं और दिखाते कुछ हैं।"

मैंने फिर सच बात कहने की कोशिश की, "भई, मेरी बात तो सुनिए।"

लेकिन चौधरी साहब ने खेमे के बाहर मुँह निकाल कर कुछ लोगों को आवाज़ दी, "कल्लू! अमामदीन। भूरे लाल!

और फ़ौरन तीन गुण्डे ख़ेमे में आ पधारे। तब चौधरी साहब ने नादिर-शाही हुक्म दिया, "ये हमें अपमानित कराने पर तुले हुए हैं। इन्हें ज़बर-दस्ती ये कपड़े पहना कर और मुँह पर खड़िया-वड़िया मल कर लाओ वहाँ। तब तक मैं एलान कराता हूँ।"

वो तो यह कह कर चलते बने और उन कसाइयों ने बलपूर्वक मेरे बाकी कपड़े उतार कर मुझे 'जोकरों' वाला लिबास पहना दिया और जिस समय वो मेरे चेहरे पर चूना मल कर काली लकीरें खींच रहे थे, मैंने बेहद ख़ुशामद के भाव से कहा—"भई, मुझसे चाहे जैसी कसम ले लो, मैं प्रोफ़ेसर मसऊद नहीं हूँ।"

उनमें से एक ने मेरे सर पर लाल फुन्दे वाली लम्बी-सी टोपी पहनाते

हुए कहा—"चकमा तो ख़ैर किसी और को देना। नहीं हो प्रोफ़ेसर तो पेशगी रुपया क्यों लिया था !"

दूसरे ने कहा, "कोई पूछे तो इससे कि जान इतनी ही प्यारी थी तो किसने कहा था इससे सूली पर लटकने को !"

और दूसरे ही क्षण मैंने लाउड-स्पीकर पर घोषणा सुनी—

"दर्शकगण, आप के इन्तज़ार की वाकई हद हो चुकी है, लेकिन हम बड़ी ख़ुशी से एलान करते हैं कि प्रोफ़ेसर मसऊद, गोल्ड मैडलिस्ट, पहुँच चुके हैं और मीनार के पास तशरीफ़ ला रहे हैं। आप ज़िन्दगी और मौत का यह खेल देखने के लिए इकट्ठे हो जायँ। एक-सौ-चालीस फ़ुट ऊँची मीनार से प्रो० मसऊद अपने जिस्म में आग लगा कर हौज़ में छलाँग लगायेंगे। आइए ! आइए !! आइए !!! प्रोफ़ेसर मसऊद आ गये। आ गये ! आ गये !!"

मेरे सारे शरीर में पहले तो कँपकँपी पैदा हुई, फिर ऐसा लगा जैसे रगों में ख़ून जम गया है। और बड़ी मुश्किल से मैं केवल यह कह सका—"छलाँग !"

फिर वो तीनों कसाई एकदम हँस पड़े और मुझे ख़ेमे के बाहर ले आये। यह सुनहरा मौका था। मैं सिर पर पैर रख कर भागा ही था कि उनमें से एक ने लपक कर मेरी गरदन पकड़ ली और मुझे झँझोड़ कर कहा—"आख़िर तुम चाहते क्या हो ? बेईमानी की हद है, अब ऐन वक़्त पर अपना रेट बढ़ाने के लिए ये हरकतें कर रहे हो !"

और उसी समय उन खौफ़नाक चौधरी साहब ने आ कर कहा—"कान पकड़े बाबा, कल से यह खेल बन्द। लेकिन आज तो छलाँग लगानी ही पड़ेगी।"

मैंने फिर लगभग रो देने के अन्दाज़ से कहा—"चौधरी साहब ! ख़ुदा जानता है कि मैं प्रोफ़ेसर मसऊद नहीं हूँ। न मैंने कभी छलाँग लगायी है, न मैं छलाँग लगा सकता हूँ। मैं बेमौत मर जाऊँगा। मेरा ख़ून आपकी गरदन पर होगा। मैं ख़ुदा की कसम खा कर कहता हूँ कि मैं प्रोफ़ेसर मसऊद

नहीं हूँ।

चौधरी साहब ने ताज्जुब से कहा—"क्या मतलब ! यानी अब तुम प्रोफ़ेसर मसऊद ही नहीं हो !"

मैंने उसी तरह गिड़गिड़ाते हुए कहा—"ख़ुदा जानता है कि मैं प्रोफ़ेसर मसऊद नहीं हूँ ! मैं तो उनका मेहमान हूँ। आज ही लाहौर आया हूँ। मैं उनका यह पास उठा लाया था, नुमाइश देखने के लिए और यहाँ आ कर इस चक्कर में फँस गया। मैं अपने बच्चों की कसम खा कर कहता हूँ कि मैं प्रोफ़ेसर मसऊद नहीं हूँ—मुझे बख़्श दीजिए !"

बिलकुल उसी समय लाउड-स्पीकर पर फिर घोषणा हुई—"एक सौ चालीस फुट ऊँची मीनार से छलाँग ! प्रोफ़ेसर मसऊद का ज़िन्दगी और मौत से मज़ाक !!"

चौधरी साहब ने यह घोषणा सुन कर मेरी अपील ख़ारिज कर दी। बोले—"अब कुछ नहीं हो सकता। छलाँग तो लगानी ही पड़ेगी—!"

और मेरे सामने बिजली के रंग-बिरंगे लट्टुओं से जगमगाती हुई एक-सौ-चालीस फ़ुट ऊँची मीनार थी, जिस पर चढ़ना ही मेरे लिए मुश्किल था, चढ़ कर फाँदने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। मैंने उसे देख कर भय से अपनी आँखें बन्द कर लीं। लेकिन चौधरी साहब ने मुझे उस मीनार की तरफ़ धक्का दिया, बल्कि लगभग घसीटते हुए मीनार तक ले गये। दर्शकों ने मुझे देख कर तालियाँ बजायीं—जैसे मेरे प्राण-पखेरू उड़ाने के लिए ये तालियाँ बजायी जा रही थीं !

चौधरी साहब ने मेरे हाथ में पेट्रोल की एक बोतल और दियासलाई की डिबिया दे कर कहा—"चढ़ जाओ इस मीनार पर और यह पेट्रोल अपने ऊपर छिड़क कर दियासलाई दिखा देना, फिर झट छलाँग लगा देना इस तालाब में—बस छुट्टी हुई !"

छुट्टी सच पूछिए तो सदा के लिए होने वाली थी, लेकिन मैं अब भी भागने के फ़िराक में था। लेकिन दर्शक बराबर तालियाँ बजा रहे थे। आख़िर मैंने निर्णय किया कि इन दर्शकों से स्पष्ट कह दूँ कि मुझे ज़बरदस्ती प्रोफ़ेसर

मसऊद बनाया जा रहा है और मैं निश्चय ही मर जाऊँगा। लेकिन उस नौबतख़ाने में तूती की आवाज़ सुनता ही कौन ? मजबूरन मैं मीनार की ओर बढ़ने लगा। मेरा दिल बैठ रहा था।

बिलकुल उसी समय लोगों में कुछ हलचल-सी पैदा हो गयी और किसी ने ऊँची आवाज़ में कहा—"यह आ गये प्रोफ़ेसर मसऊद !"

और चौधरी साहब ने मेरा हाथ पकड़ कर मुझे फिर घसीटा और दौड़ाते हुए ख़ेमे में ला कर जल्दी-जल्दी वह मसख़रों वाला लिबास मेरे शरीर से उतार कर एक अन्य व्यक्ति को पहनाना शुरू कर दिया। मैंने उस व्यक्ति को देख कर मन-ही-मन कहा—'लो, अब किसी और की शामत आयी। अब किसी और को प्रोफ़ेसर मसऊद बनाया जा रहा है।' इसलिए कि दर-असल यह भी प्रोफ़ेसर मसऊद न था। बहरहाल कोई भी हो, मेरी बला से। मैं तो मौत के मुँह से बच निकला।

उस व्यक्ति ने जल्दी-जल्दी वह लिबास पहना। अजीब-ो-ग़रीब भाव-भङ्गिमा बनायी और दौड़ा उस मीनार की तरफ़।

जब मैं अपने निजी कपड़े पहन कर और मुँह साफ़ करके उस हुजूम में पहुँचा तो वह व्यक्ति एक सौ चालीस फ़ुट की बुलन्दी पर पहुँच कर अपने शरीर पर पेट्रोल छिड़क रहा था। उसने अपने कपड़ों को पेट्रोल से तर करने के बाद दियासलाई दिखा कर आग लगायी। अब उसने जो छलाँग लगायी है उस मीनार से तो तालाब में एक 'छपाका' हुआ और वातावरण तालियों के शोर से गूँज उठा। तालाब से निकल कर वह ख़ेमे की ओर दौड़ा।

अब मेरे दिमाग़ का बोझ भी हल्का हो चुका था और दिमाग़ में सोचने की शक्ति फिर से आ गयी थी। इसलिए सब से पहला प्रश्न मस्तिष्क में यह आया कि यह प्रोफ़ेसर मसऊद न सही, लेकिन मसऊद ने यह करतब कब से दिखाने शुरू कर दिये ? मसऊद के जीवन के इस रुख़ की तो मुझे ख़बर ही न थी।

मैं अभी इसी बात पर ग़ौर कर रहा था कि चौधरी साहब ने आ कर मुझे फिर घेरा।

वे बोले—"चलिए आप को प्रोफ़ेसर मसऊद बुला रहे हैं, जिनका पास आप चुरा लाये थे।"

मैं स्वयं इस पहेली को हल करने के लिए आकुल था, इसलिए बहुत मुस्तैदी से ख़ेमे में पहुँच गया। मुझे देखते ही उन मसऊद साहब ने कहा, "क्यों जनाब! मेरा यह पास आपने कहाँ से उड़ाया?"

मैंने कहा, "यह आपका नहीं, प्रोफ़ेसर मसऊद का पास है जो मेरे मित्र हैं। और जिनके घर मैं आज ही आ कर ठहरा हूँ।"

उस व्यक्ति ने चौंक कर कहा, "अच्छा तो आपका ही वह बिस्तर बग़ैरह रखा हुआ है मेरे घर पर?"

मैंने कहा, "आप के घर पर या मसऊद के घर पर?"

उस व्यक्ति ने ताली बजा कर बिलकुल बे-तकल्लुफ़ी से कहा, "अरे यार, तुम कहीं उस मसऊद के मेहमान तो नहीं हो जो कॉलेज में पढ़ाता है?"

मैंने कहा, "जी हाँ, वही मसऊद!"

उस व्यक्ति ने कहा, "तो यों कहो न। वो तो मेरे मकान के सामने वाली कोठी में रहते हैं। मैं भी कहूँ कि प्रोफ़ेसर मसऊद और कौन हो सकता है?"

और उसी समय चौधरी साहब ने चाय का एक गिलास उन प्रोफ़ेसर मसऊद को और दूसरा मुझे थमा दिया। और मैं उनसे यह न कह सका कि 'यह चाय तो है, मगर गिलास में?'

अलबत्ता प्रोफ़ेसर साहब कह रहे थे, "लस्सी नहीं मिल सकती?"

कृष्ण चन्द्र

●●●

पत्नी-प्रेम

मान्यवर सम्पादक जी !

क्षमा चाहता हूँ कि इस बार आपके दीपावली अंक के लिए लेख न भेज सका। बात यह हुई कि जब पहली बार आपका पत्र आया, जिसमें आपने लिखा था कि इस वर्ष आपने अपने कुछ पुराने लिखने वालों को एक ही विषय पर लेख लिखने के लिए राज़ी किया है और वह विषय है 'पत्नी अपने पति की दृष्टि में !' और तस्वीर भी माँगी थी, तब मुझे सहसा हँसी आ गयी थी। संयोग से मेरी पत्नी भी उस समय मेरी कुर्सी के पीछे खड़ी मेरे पत्रों की निगरानी कर रही थी। क्योंकि, मुझे डाक से प्रायः लड़कियों के पत्र आते रहते हैं, इसलिए पत्नी द्वारा पत्रों की देख-भाल से मेरे लिए जान बचानी मुश्किल हो जाती है। ख़ैर, वह एक अलग विषय है। उस पर कभी अवकाश मिलने पर बात होगी। इस समय तो मैं आपको यह बता रहा था कि आपका पत्र पढ़ कर मुझे सहसा हँसी आ गयी। तब मेरी पत्नी ने पूछा :

"क्यों हँसे ?".

मैंने कहा, "यह एक सम्पादक महाशय हैं जो पत्नी पर पति की दृष्टि से एक लेख माँगते हैं और तस्वीर भी चाहते हैं।"

"किसकी पत्नी पर किसके पति की दृष्टि से लेख माँगते हैं?" उसने तुरन्त पूछा।

मैंने कहा, "यदि किसी दूसरे की पत्नी पर लेख माँगा होता..."

"जब तो तुम तुरन्त लिख देते।" वह बीच ही में बात काट कर बोली, "ज़रा ठहरो। मुन्ना रो रहा है, मैं उसको दो तमाचे लगा कर अभी आ कर तुम से बात करती हूँ।"

जब वह वापस आयी तो मैंने कुर्सी ज़रा परे खिसका ली। वह बोली, "हाँ, अब बताओ?"

मैंने कहा, "वास्तव में मुझे तुम पर एक लेख लिखना है—अपने दृष्टिकोण से! इसीलिए मैं हँस रहा था कि ये भलेमानस सम्पादक इतना भी नहीं जानते कि विवाह के बाद पति का दृष्टिकोण भी वही हो जाता है, जो पत्नी का होता है। फिर वह बेचारा जो कुछ भी देखता है, अनुभव करता है, बात करता है, आता है, जाता है, खाता है, पीता है, चलता है, बैठ जाता है, बैठ कर फिर चलने लगता है—वह सब कुछ उसकी पत्नी के दृष्टिकोण से होता है। अलबत्ता विवाह के पहले पति का एक दृष्टिकोण अवश्य होता है, लेकिन विवाह के बाद प्रायः समाप्त हो जाता है। केवल दृष्टिकोण रह जाता है, कुछ समय के बाद दृष्टि भी चली जाती है और केवल कोण-ही-कोण रह जाता है।"

मेरी पत्नी ने बड़ी गम्भीरता से पूछा, "क्या ये सम्पादक महोदय कुँआरे हैं?"

मैंने आश्चर्य से पूछा, "तुमने कैसे जाना?"

उसने मेरे प्रश्न का उत्तर न दिया। बोली, "शक्ल-सूरत कैसी है?"

"देखने में तो अच्छा है। लेकिन...।"

"कमाता क्या है?" वह मेरी बात अनसुनी करके बोली।

"तीन सौ रुपये मिलते हैं।"

"तो बहुत हुए। तुमने तो किसी महीने मुझे ढाई सौ रुपये भी लाके नहीं दिये। तुम अपनी लड़की के विवाह की बात उससे क्यों नहीं करते?"

"भलीमानस!" मैंने चकित हो कर कहा, "वह लेख माँग रहा है। मैं उसे अपनी लड़की दे दूँ? इस तरह से तो वह साल में तीन-तीन बार विशेषांक निकालेगा।"

"मज़ाक मत करो!" वह ग़ुस्से से बोली, "घर में जवान-जहान लड़की कुँआरी बैठी है और तुम्हें उसकी सुध नहीं है। जब देखो बेकार क़लम चलाया करते हो। मेरे तो भाग्य ही फूट गये हैं।"

और वह अपने आँसू पोंछते हुए मेरे कमरे से बाहर चली गयी।

दो-तीन दिन तक मेरा मूड भी बिगड़ा रहा। कई बार आपका लेख लिखने को बैठा पर क़लम चली ही नहीं। चौथे दिन आपकी सहायक सम्पादिका मुझसे लेख माँगने आ गयीं। मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि जब आप एक नौजवान और सुन्दर लड़की को सहायक सम्पादिका रखते हैं तो उसे विवाहित लेखकों के घर क्यों भेजते हैं और लिपस्टिक, पाउडर आदि से सुसज्जित करके क्यों भेजते हैं? आपकी असिस्टेंट ने गहरे ऊदे रंग की कंजीवरम की बढ़िया साड़ी पहन रखी थी, हाथ में शान्ति निकेतन का चमड़े का बेग था। कानों में पुखराज के बुन्दे थे। आप उसको वेतन क्या देते हैं?

मैंने लेख तो लिखा नहीं था, इसलिए वह काफ़ी समय तक मेरे पास बैठी रही और मैं बहुत देर तक उसका हाथ अपने हाथ में ले कर उसके भाग्य की लकीरें देखता रहा। आपको शायद मालूम नहीं, मैं बहुत अच्छा ज्योतिषी हूँ और लड़कियों का हाथ तो बहुत ही अच्छा देखता हूँ।

काफ़ी देर बैठ कर वह चली गयी। इस बीच में मेरी पत्नी ने पर्दे के पीछे से तीन-चार बार झाँक भी लिया था। जब वह चली गयी तो उसने पूछा, "यह कौन थी? क्या थी? किस लिए आयी थी?"

मैंने कहा, "लड़की थी, सहायक सम्पादिका थी, वही लेख माँगने

आयी थी।"

"तुमने लिख कर दे दिया?"

"लिखा ही नहीं था, क्या देता?"

"हाँ, हाँ! तुम लेख मुझ पर क्यों लिखोगे?" वह झल्ला कर बोली, "मैं तुम्हारी कौन होती हूँ! तुम बाहर की जाने कैसी-कैसी गयी-गुज़री स्त्रियों पर लिखते रहते हो, लेकिन घर की स्त्री पर, अपनी पत्नी पर, तुमसे क्यों लेख लिखा जायगा? मैं सब समझती हूँ, आने दो उस चुड़ैल को दोबारा। मैं उसकी चुटिया न काट के फेंक दूँ...।"

वह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। मैंने अपनी कुर्सी से उठ कर उसे प्यार किया, बहलाया, पुचकारा, सम्हाला। बड़ी मुश्किल से उसने अपने आँसू रोके। उन्हें पोंछते-पोंछते बोली—

"यों तुम मुझसे प्यार करते हो न?"

"संसार में सबसे ज़्यादा।"

"मुझ पर लेख लिखोगे न?"

"अवश्य!"

"अच्छा-सा लेख?"

"बहुत बढ़िया लिखूँगा!"

अब वह आँसुओं के बीच मुस्करा दी। उसकी आँखें ख़ुशी से चमकने लगीं। बोली,

"मेरा एक चित्र भी भिजवा देना।"

"चित्र?"

"क्यों?" वह एकदम भड़क कर बोली, "उन्होंने माँगा है। क्या मैं तुम्हें अच्छी नहीं लगती हूँ?"

"बहुत अच्छी लगती हो डार्लिंग।"

"तो फिर?"

"बहुत अच्छा, चित्र भी छप जायगा।" मैंने धीरे से कहा।

"तो चित्र खिंचवाने कब चलोगे?"

"आज ही चलूँगा।"

वह बहुत प्रसन्न हुई। फिर सहसा उदास-सी हो गयी। बोली, "लेकिन मेरे पास तो कोई नयी साड़ी ही नहीं है।"

मैंने कहा, "अभी पिछले सप्ताह...!"

वह बोली, "वह तो पिछले सप्ताह की है। नयी तो नहीं है।"

"बेशक, नयी तो नहीं है।" मैंने स्वीकार किया।

वह बोली, "मैं नयी साड़ी में चित्र खिंचाऊँगी।"

मैंने उसे टालने के अभिप्राय से कहा, "इतना टन्टा क्यों करती हो! वह अपना पुराना चित्र भेज दो ना, जो बनारसी साड़ी में है!"

"वाह! वह तो विवाह का चित्र है। बाइस वर्ष हो गये। तुम भी क्या बात करते हो?"

मैंने कहा, "अच्छा तो बाज़ार से साढ़े सत्रह रुपये की वायल की साड़ी ले लेंगे। आजकल फूलदार वायल की बहुत बढ़िया साड़ियाँ आयी हैं।"

वह चीख़ कर बोली, "मैं वायल नहीं लूँगी। मैं तो कंजीवरम की साड़ी लूँगी। वैसी ऊदे रंग की, जैसी उस कलमुँही ने पहन रखी थी।"

"कंजीवरम की साड़ी?"—मेरा दिल अन्दर-ही-अन्दर बैठने लगा। घटिया-से-घटिया कंजीवरम की साड़ी भी अस्सी नब्बे से कम में नहीं आती है।

"हाँ कंजीवरम की साड़ी लूँगी और शान्ति निकेतन वाला वही बेग, जो उस छिनाल ने ले रखा था। और वैसी ही सैंडिल और वैसा ही प्योर मैसूर सिल्क का चमचमाता ब्लाऊज़। और कानों के वैसे ही बुन्दे। और मैं टैक्सी में बैठ कर चित्र खिचवाने जाऊँगी—टैक्सी में! हाँ! अभी से कहे देती हूँ। बस में नहीं जाऊँगी। नहीं तो मेरे सारे कपड़े ख़राब हो जायेंगे। औरों को टेक्सी में ले जाओ और मुझे......"

इस घटना के तीन-चार दिन के बाद आपकी सहायक सम्पादिका एक नयी पोशाक पहन कर मेरे घर आयी तो मेरी पत्नी ने कह दिया मैं घर पर नहीं हूँ। उसके तीन-चार दिन बाद जब वह आयी तो मैं पूना गया हुआ

था। उसके बाद अहमदाबाद गया था, फिर नासिक गया था। उसके बाद वह नहीं आयी। उसने सोचा होगा—नासिक जाके कौन लौटता है? तीर्थ-धाम जो है।

लेख तो मैं लिख नहीं सका। पत्नी का चित्र भेज रहा हूँ। विज्ञापनों के किसी पृष्ठ पर छाप दीजिएगा। साथ ही बिल भी भेज रहा हूँ। विवरण यह है :—

कंजीवरम की साड़ी :	एक सौ पचीस रुपये
पेटीकोट सिल्क :	इक्कीस रुपये
सैंडिल :	साढ़े पंद्रह रुपये
ब्लाऊज़ (बंगलौर-आर्ट) :	अठारह रुपये, दस आने
बुन्दे :	एक सौ पैंतिस रुपये
टैक्सी :	नौ रुपये नौ नये पैसे
सिनेमा :	छः रुपये
दही-बड़े की चाट :	डेढ़ रुपये
कुल टोटल :	३३१ रुपये ११ आने ३ नये पैसे।

बिल की अदायगी तुरन्त होनी चाहिए। क्योंकि मैंने ये रुपये एक पठान से क़र्ज़ लिये हैं, वर्ना आपको मेरी मरहम-पट्टी का ख़र्च भी देना पड़ेगा। इसलिए बिल तुरन्त भिजवा दीजिए और भविष्य में लेख माँगते समय लेखक की जेब का ख़याल रखिए।

केवल आपका,
कृष्ण चन्द्र

सआदत हसन मंटो

●●●

प्रगतिशील क़ब्रिस्तान

अंग्रेज़ी सभ्यता और संस्कृति की खूबियाँ कहाँ तक गिनवायी जायें। उसने हम असभ्य हिन्दुस्तानियों को क्या कुछ नहीं दिया? हमारी गँवार औरतों को अपने शरीर की रेखाओं की नुमायश के नित नये तरीक़े बताये। शारीरिक सुन्दरता का प्रदर्शन करने के लिए बिना आस्तीनों के ब्लाऊज़ पहनने सिखाये। मिस्सी-काजल छीन कर उनके सिंगारदानों में लिपिस्टिक, रूज, पौडर और सिंगार की दूसरी चीज़ें भर दीं। पहले हमारे यहाँ मोचने सिर्फ़ नाक या मूछों के बाल चुनने के काम आते थे, पर अंग्रेज़ी सभ्यता ने हमारी औरतों को उनसे अपनी भवों के बाल चुनना सिखाया।

यह सभ्यता की ही देन है कि अब जो औरत चाहे, लायसेन्स ले कर खुल्लम-खुल्ला अपने शरीर का व्यापार कर सकती है। प्रगतिशील मर्दों-औरतों के लिए सिविल मैरेज का क़ानून मौजूद है। जब चाहिए शादी कर लीजिए और जब चाहिए तलाक़ ले लीजिए। हींग लगती है न फिटकरी, मगर रंग चोखा आता है। नाच घर मौजूद हैं, जहाँ आप औरतों

के साथ सीने-से-सीना मिला कर कई क़िस्म के नाचों में शरीक हो सकते हैं। क्लब-घर मौजूद हैं, जहाँ आप बड़े सभ्य ढंग से अपनी सारी सम्पत्ति जुए में हार सकते हैं। मजाल है कि आप कभी क़ानून की पकड़ में आयें। शराब-खाने मौजूद हैं, जहाँ आप अपना ग़म ग़लत कर सकते हैं।

अंग्रेज़ी सभ्यता और संस्कृति ने हमारे देश को अत्यन्त प्रगतिशील बना दिया है। अब हमारी औरतें पतलूनें पहन कर बाज़ारों में चलती फिरती हैं। कुछ ऐसी भी हैं, जो क़रीब-क़रीब कुछ भी नहीं पहनतीं, लेकिन फिर भी आज़ादी से घूम-फिर सकती हैं। हमारा देश बहुत उन्नतिशील हो गया है क्योंकि यहाँ 'नंगा क्लब' खोलने की भी योजना बन रही है।

वो लोग सिर-फिरे हैं, जो इतने एहसान करने वाले इन अंग्रेज़ों से कहते हैं कि भारत छोड़ कर चले जायें। अगर ये हिन्दुस्तान छोड़ कर चले गये तो हमारे यहाँ 'नंगा क्लब' कौन खोलेगा? ये जो नाच घर हैं, इनकी देख-भाल कौन करेगा? हम औरतों के साथ सीने-से-सीना मिला कर कैसे नाच सकेंगे? हमारे चकले क्या वीरान नहीं हो जायेंगे? हमें एक-दूसरे से लड़ना कौन सिखायेगा? अगर हम पर उपकार करने वाले ये अंग्रेज चले गये तो मुस्लिम लीगें और हिन्दू महासभाएँ कैसे क़ायम होंगी? मैनचेस्टर से जो कपड़े अब हमारी कपास से तैयार हो कर आते हैं, फिर कौन तैयार करेगा? ये अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट बिस्कुट, जो हम खाते हैं, फिर हमें कौन देगा?

जो उन्नति हमें और हमारे हिन्दुस्तान की अंग्रेज़ों के वक़्त में हुई, और किसी के शासन-काल में नहीं हो सकती। अगर हम आज़ाद भी हो जायें तो हमें हुकूमत करने की वो चालें नहीं आ सकतीं, जो हमारे इन हाकिमों को आती हैं। उन हाकिमों को, जिनके शासन-काल में न सिर्फ़ हमारे होटलों, क्लबों, नाच घरों और सिनेमाओं की बल्कि क़ब्रिस्तानों की भी काफ़ी तरक़्क़ी हुई है।

अप्रगतिशील क़ब्रिस्तानों में मुर्दे उठा कर गाड़ दिये जाते हैं, जैसे वो कोई क़द्रो-क़ीमत ही नहीं रखते। लेकिन प्रगतिशील क़ब्रिस्तानों में ऐसा

नहीं होता। मुझे इस तरक़्क़ी का एहसास उस समय हुआ, जब बम्बई में मेरी माँ का देहान्त हो गया। मैं छोटे-छोटे, अपेक्षाकृत असभ्य शहरों में रहने का अभ्यस्त था। मुझे क्या मालूम कि बड़े शहरों मे मुर्दों पर भी सरकारी प्रतिबन्ध लगे हैं।

माँ की लाश दूसरे कमरे में पड़ी थी। मैं ग़म का मारा सिर निहुड़ाये एक सोफ़े पर बैठा सोच रहा था कि इतने में एक साहब ने, जो अर्से से बम्बई में रहते थे, मुझसे कहा, "भई अब तुम लोगों को कुछ कफ़न-दफ़न की फ़िक्र होनी चाहिए।"

मैंने कहा, "सो यह आप ही करेंगे, क्योंकि मैं यहाँ नया-नया आया हूँ।"

उन्होंने जवाब दिया, "मैं सब कुछ कर दूँगा; मगर पहले तुम्हें किसी के हाथ इत्तला भिजवा देनी चाहिए कि तुम्हारी माँ का इन्तक़ाल हो गया है।"

"किसको?"

"यहाँ पास ही म्युनिसिपेल्टी का दफ़्तर है। उसको इत्तला देनी बहुत ज़रूरी है। क्योंकि जब तक वहाँ से सर्टिफ़िकेट नहीं मिलेगा, क़ब्रिस्तान में दफ़नाने की इजाज़त नहीं मिलेगी।

उस दफ़्तर को सूचना भेज दी गयी। वहाँ से एक आदमी आया, जिसने तरह-तरह के सवाल करने शुरू किये, "क्या बीमारी थी, कितने अर्से से मरने वाली बीमार थी, किस डॉक्टर का इलाज हो रहा था?"

हक़ीक़त यह थी कि मेरी ग़ैर मौजूदगी में हार्ट फ़ेल हो जाने के कारण मेरी माँ का देहान्त हुआ था। प्रकट है कि वे किसी से इलाज नहीं करा रही थीं और न पहले से बीमार ही थीं। चुनांचे मैंने उस आदमी से जो सच्ची बात थी, कह दी। उसको इत्मीनान न हुआ और कहने लगा, "आप को डॉक्टरी सर्टिफ़िकेट दिखाना पड़ेगा कि मौत सचमुच हार्ट-फ़ेल हो जाने से हुई है।"

मैं सिटपिटा गया। डॉक्टरी सर्टिफ़िकेट कहाँ से हासिल करूँ। चुनांचे कुछ सख़्त कलमे मेरी ज़बान से निकल गये। लेकिन मेरे वो दोस्त, जो एक अर्से से बम्बई में रहते थे, उठे और उस आदमी को एक तरफ़ ले गये। कुछ

देर उससे बातें करते रहे, फिर आये और मेरी तरफ़ इशारा करके कहने लगे—"यह तो बिलकुल बेवक़ूफ़ है। इसको यहाँ की बातों का इल्म नहीं।" फिर उन्होंने मेरी जेब से दो रुपये निकाल कर उस आदमी को दिये, जो एकदम ठीक हो गया और कहने लगा, "अब आप ऐसा कीजिए कि दवाओं की चन्द खाली बोतलें मुझे दे दीजिए ताकि बीमारी का कुछ तो सबूत हो जाये। पुराने नुस्खे वग़ैरह पड़े हों तो वो भी मुझे दे दीजिए।"

उसने इस क़िस्म की और बातें कीं जिनको सुन कर मुझे थोड़ी देर के लिए ऐसा लगा कि मैं अपनी माँ का क़ातिल हूँ और यह आदमी जो मेरे सामने बैठा है, मुझ पर तरस खा कर इस भेद को अपने तक ही रखना चाहता है और मुझे ऐसी तरकीबें बता रहा है, जिससे क़त्ल के निशान मिट जायें। उस वक़्त जी में आयी थी कि धक्के दे कर उसे बाहर निकाल दूँ और घर में जितनी खाली बोतलें पड़ी हैं, उन सब को एक-एक करके उसके बिना भेजे के सिर पर फोड़ता चला जाऊँ। लेकिन इस सभ्यता और संस्कृति का भला हो कि मैं खामोश रहा और अन्दर से कुछ बोतलें निकलवा कर उसको दे दीं।

दो रुपये रिश्वत के तौर पर अदा करने के बाद म्युनिसिपेल्टी का सर्टिफ़िकेट हासिल कर लिया गया था। अब क़ब्रिस्तान का दरवाज़ा हम पर खुला था। लोहे के बहुत बड़े दरवाज़े के पास छोटा-सा कमरा था, जैसा कि सिनेमा के साथ बुकिंग आफ़िस होता है। उसकी खिड़की में से एक आदमी ने झाँक कर अन्दर जाते हुए जनाज़े को देखा और कुछ कहने ही को था कि मेरे दोस्त ने वह पर्ची, जो म्युनिसिपेल्टी के दफ़्तर से मिली थी, उसके हाथ में दे दी। क़ब्रिस्तान के मैनेजर को इत्मीनान हो गया कि जनाज़ा बिना टिकट के अन्दर दाखिल नहीं हुआ।

बड़ा खूबसूरत क़ब्रिस्तान था। एक जगह दरख्तों का झुण्ड था, जिसके साये में कई पक्की क़ब्रें लेटी हुई थीं। उन क़ब्रों के आस-पास मोतिया, चमेली और गुलाब की झाड़ियाँ उग रही थीं। पूछने पर मालूम हुआ कि यह क़ब्रिस्तान का सबसे ऊँचा दरजा है जहाँ हाई क्लास आदमी अपने अज़ीज़ों

को दफ़न करते हैं। एक क़ब्र के दाम तीन सौ रुपये अदा करने पड़ते हैं। यह रक़म देने के बाद क़ब्रिस्तान की इस ठण्डी और हवादार जगह में आप अपनी या अपने किसी अज़ीज़ की पक्की क़ब्र बनवा सकते हैं। उसकी देख-भाल करना हो तो आपको छः रुपये सालाना और देने पड़ेंगे। यह रक़म ले कर मैनेजर साहब इस बात का खयाल रखेंगे कि क़ब्र ठीक हालत में रहे।

वो लोग, जो तीन सौ रुपये देने की हैसियत नहीं रखते, उनकी क़ब्रें तीन या चार साल के बाद खोद-खाद कर मिटा दी जाती हैं और उनकी जगह दूसरे मुर्दे गाड़ दिये जाते हैं। उन क़ब्रों को दरख़्तों की छाँव और मोतिया-चमेली की खुशबू नसीब नहीं होती। यहाँ दफ़नाते वक़्त मिट्टी के साथ एक ख़ास क़िस्म का मसाला मिला दिया जाता है ताकि लाश और उसकी हड्डियाँ जल्दी गल-सड़ जायें।

चूँकि एक ही शक्ल सूरत की क़ब्रों की क़तार-की-क़तार चली गयी है, इसलिए हर क़ब्र पर नम्बर लगा दिया गया है ताकि पहचानने में आसानी हो। यह नम्बर चार आने में मिलता है। आजकल अच्छे सिनेमाओं में भी ऐसा ही किया जाता है। नम्बर लगे टिकट दे दिये जाते हैं ताकि हाल में गड़बड़ न हो और आदमी उस नम्बर की सीट पर बैठे, जिस नम्बर का उसके पास टिकट है। जब मुर्दा दफ़न कर दिया जाता है तो क़ब्रिस्तान का मैनेजर एक ख़ास नम्बर, जो लोहे की तख्ती पर लिखा होता है, क़ब्र के पहलू में गाड़ देता है। यह उस वक़्त तक गड़ा रहता है, जब तक क़ब्र किसी दूसरे मुर्दे के लिए ख़ाली नहीं की जाती।

नम्बर मिलने से कितनी आसानी हो जाती है। यानी आप अपनी नोट-बुक में अपने अज़ीज़ों की क़ब्रों का नम्बर भी लिख सकते हैं।

जूते का नम्बर	५
मोज़े का नम्बर	६½
टेलीफ़ोन का नम्बर	४४४५७
बीमा की पालिसी का नं०	२२५६८६
माँ की क़ब्र का नम्बर	४८१७

और अगर ज़माना ज़्यादा तरक़्क़ी कर गया तो पैदा होते ही आपको अपनी क़ब्र का नम्बर मिल जाया करेगा।

क़ब्रिस्तान में दाखिल होते ही एक खूबसूरत मसजिद दिखायी दी, जिसके बाहर एक बहुत बड़े बोर्ड पर 'ज़रूरी इत्तिला' शीर्षक के अन्तर्गत यह सूचना लिखी थी—

> "अगर कोई शख्स अपने वारिस का कच्चा ओटा बनाना चाहे तो वह गोर खोदू बनावेंगे, और कोई नहीं बना सकता। बड़ी क़ब्र बनाने के दो रुपये चार आने, जिसमें सवा रुपया गोर खोदू की मज़दूरी और एक रुपया क़ब्रिस्तन का हक़। छोटी क़ब्र का सवा रुपया, जिसमें गोर खोदू की मज़दूरी बारह आने और क़ब्रिस्तान का हक़ आठ आने। अगर न देंगे तो उनका ओटा निकाल दिया जायेगा। क़ब्रिस्तान में किसी को रहने की इजाज़त नहीं। हाँ मय्यत के साथ आवें और अपना तोशा ले कर बाहर चले जावें, ख्वाह मर्द हो या औरत। अगर कोई मय्यत बाहर से बग़ैर ग़ुस्ल के आवे और उसके साथ ग़ुस्ल देने वाला भी हो तो उससे क़ब्रिस्तान का हक़ चार आने लिया जायगा। जिस मय्यत को ग़ुस्ल रात को दिया जायेगा उससे दो आना रोशनी का अलग लिया जायगा। कोई शख्स क़ब्रिस्तान में दंगा-फ़साद न करे। अगर करेगा तो उसको पुलिस के हवाले कर दिया जायेगा। क़ब्र के वारिस अपने ओटे पर पानी डालने और दरख्त लगाने का काम गोर खोदू को सौंप दें तो उनको चार आने माहवार देना होगा। जो साहब न देंगे, उनकी क़ब्र पर न गोर खोदू पानी डालेंगे और न दरख्त उगायेंगे।
>
> मैनेजिंग ट्रस्टी....

सिनेमाओं के विज्ञापनों और क़ब्रिस्तान के इस एलान में एक हद तक काफ़ी समानता है। क्योंकि वहाँ भी लिखा होता है—"शराब पी कर आने वालों और दंगा फ़साद करने वालों को पुलिस के हवाले कर दिया जायेगा।"

बहुत मुमकिन है कि ज़माने की तरक़्क़ी के साथ इस एलान में सुधार भी होते जायें और कभी ऐसे शब्द भी बढ़ा दिये जायें—

भूचाल आने और बम-वर्षा की हालत में मैनेजर क़ब्रों के दाम वापस नहीं करेगा। जो साहब अपने अज़ीज़ों-रिश्तेदारों की क़ब्र पर एयररेड शेल्टर बनवाना चाहें उन्हें ढाई सौ रुपया और देना होगा। लेकिन उस हालत में भी क़ब्र की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी मैनेजर पर न होगी। क़ब्र को एयर कण्डीशन्ड बनाने के लिए छोटे-छोटे प्लाण्ट मिल सकते हैं। हर महीने जितनी बिजली खर्च होगी उसका बिल क़ब्र के वारिस को अदा करना होगा वग़ैरह वग़ैरह...."

एक बोर्ड और दिखायी दिया, जिस पर मुर्दों के नहलाने वग़ैरह के रेट लिखे थे। मुलाहिज़ा हो—

जनाज़े की नमाज़ और तल्क़ीन पढ़ायी	....	०-६-०
ग़ुस्ल बड़ी मय्यत	....	१-४-०
ग़ुस्ल छोटी मय्यत	....	०-१४-०
मय्यत के लिए पानी गर्म करने की लकड़ी	....	०-४-०
पानी भरने और गर्म करने की मज़दूरी	....	०-२-०
बड़ी मय्यत के बरगे, फ़ी बरगा	....	०-२-६
छोटी मय्यत के बरगे, फ़ी बरगा	....	०-१-६

नोट—बरगे लकड़ी के उन तख़्तों को कहते हैं जो क़ब्र के गढ़े में मय्यत के ऊपर रखे जाते हैं ताकि मिट्टी से लाश दब न जाये।

किसी अच्छे सैलून में जाइए तो वहाँ भी ग्राहकों की सुविधा के लिए इस क़िस्म के बोर्ड पर आप को अलग-अलग चीज़ों के रेट नज़र आयेंगे—

मर्दों की बाल कटवायी		....	०-८-०
बच्चों	,,	....	०-४-०
औरतों	,,	....	१-०-०
बच्चियों	,,	....	०-८-०

दाढ़ी मुण्डवायी	....	०-२-०
बाल कटवायीं और दाढ़ी मुण्डवायी	....	०-६-०
शेम्पू	....	०-२-०
बाल कटवायी, दाढ़ी मुण्डवायी और शेम्पू	....	१-०-०

अगर बाल कटवाये जायें और साथ-ही-साथ दाढ़ी भी मुण्डवायी जाये तो एक-दो आने की रिआयत हो जाती है। बहुत मुमकिन है आगे चलकर क़ब्रिस्तान वाले भी कुछ रिआयत अपने ग्राहकों को दे दिया करें। कुछ इस क़िस्म का एलान कर दिया जाय—

"जो साहब साल में दो बड़ी क़ब्रें खुदवायेंगे, उनको एक छोटी क़ब्र मुफ़्त खोद कर दी जायेगी" या "जो साहब एक वक़्त में दो क़ब्रें खुदवायेंगे, उनको गुलाब की दो क़लमें मुफ़्त दी जायेंगी।" या "जो लोग कफ़न-दफ़न का सब सामान हमारे यहाँ से खरीदेंगे उनको क़ब्र का नम्बर एक खूबसूरत बिल्ले पर तिल्ले से कढ़ा हुआ मुफ़्त मिलेगा।"

यह भी सम्भव है कि आने वाले ज़माने में, जब कि हमारे क़ब्रिस्तान और ज़्यादा तरक़्क़ी कर जायेंगे, क़ब्रों की एडवांस बुकिंग हुआ करेगी। यानी हम लोग अपने बूढ़े रिश्तेदारों के लिए दो-दो तीन-तीन बरस पहले ही किसी अच्छे और फ़ेशनेबुल क़ब्रस्तान में सीट बुक कर लिया करेंगे ताकि वक़्त पर कठिनाई का सामना न करना पड़े। उस वक़्त मुर्दों का कफ़नाने दफ़नाने का इन्तज़ाम भी नये तरीकों पर होगा। चुनांचे बहुत मुमकिन है कि क़ब्र खोदने वालों की तरफ़ से इस क़िस्म के विज्ञापन छपा करें—

ईसा जी मूसा जी ऐण्ड सन्ज़ कफ़न-दफ़न के माहिर

मय्यतों को नये यंत्रों की मदद से बिना हाथ लगाये नहलाया जाता है और बिना हाथ लगाये कफ़न पहनाया जाता है!

क़ब्रिस्तानों की तरफ़ से भी ऐसे ही विज्ञापन छपें तो कोई ताज्जुब न होगा—

शहर का सब से जदीद (आधुनिक) क़ब्रिस्तान

जहाँ मुर्दे उसी तरह क़ब्रों में सोते हैं, जिस तरह आप अपने नर्म-गर्म बिस्तरों में।

बम्बई शहर में इस वक़्त कई ऐसी संस्थाएँ मौजूद हैं, जो मय्यतों के कफ़न-दफ़न का प्रबन्ध करती हैं। आपको तकलीफ़ करने की कोई ज़रूरत नहीं। इन संस्थाओं में से किसी एक को खबर भेज दीजिए। मय्यत को नहला-धुला कर और कफ़न वग़ैरह पहना कर उस संस्था के आदमी आपके घर से जनाज़े को उठा कर क़ब्रिस्तान ले जायेंगे और वहाँ दफ़न कर देंगे। कानों-कान खबर न होगी। जब सारा काम आपके इत्मीनान के मुताबिक़ हो जाये तो यह संस्था आपका अपना बिल पेश कर देगी।

आप बहुत व्यस्त आदमी हैं। संयोग से आपके नौकर को मौत आ दबोचती है। आपको उसकी मौत का बहुत अफ़सोस है। पर आपको सागर तट पर अपने चन्द ऐसे दोस्तों के साथ पिकनिक पर जाना है, जिनसे आप के कारोबारी सम्बन्ध हैं। इसलिए आप तुरन्त किसी संस्था के मैनेजर को बुलायेंगे। जनाज़े के साथ संस्था के पेशेवर कन्धा देने वाले होंगे, जो आपके मकान से क़ब्रिस्तान तक ऊँची आवाज़ में क़ुरान शरीफ़ की आयतें पढ़ते हुए जायेंगे। वहाँ जनाज़े की नमाज़ पढ़ी जायेगी, जिसकी पढ़वायी बिल में शामिल होगी और एक बड़ी क़ब्र में, जिसकी क़ीमत दो रुपये चार आने होती है, आपका वफ़ादार नौकर दफ़न कर दिया जायेगा। सागर तट पर आप बड़े इत्मीनान से अपने दोस्तों के साथ हँसते-खेलते रहेंगे और यहाँ भी हँसते-खेलते आपके नौकर की क़ब्र तैयार हो जायेगी और अगर आपने इनाम देने का वादा किया होगा तो उस पर संस्था के आदमी फूलों की एक चादर भी चढ़ा देंगे।

चन्द रोज़ हुए, मुझे फिर उसी क़ब्रिस्तान में जाने का संयोग हुआ। नोटिस बोर्ड पर एक आम एलान लिखा था :

"तारीख ८ जून सन् १९४२ ई० से मँहगाई की वजह से क़ब्र की खुदवायी की मज़दूरी बढ़ा दी गयी है। बड़ी क़ब्र की खुदवायी १ रुपया ४ आने, छोटी क़ब्र की खुदवायी १४ आने।"

राजेन्द्रसिंह बेदी

●●●

हज्जाम इलाहाबाद के

मैं जहाँ डाङ्क पर खड़ा हूँ, यहाँ से नज़्ज़ारा बहुत ख़ूबसूरत है...वह गदली गंगा, वह नीली जमुना, और बीच में कहीं सरस्वती माई है जो आज तक किसी को नज़र नहीं आयी। हम इन तीन नदियों को 'तिरबेनी' भी बोलते हैं और जी में आये तो इनके मिलाप की वजह से इसे संगम भी कह डालते हैं—मूड-मूड की बात है।

यह संगम यों तो और भी बहुत-से काम आता है, लेकिन किसी मरे हुए लीडर की हड्डियाँ बहाने के लिए बहुत ही अच्छा है। यह क़िला, जो आप देख रहे हैं, मुग़ल सम्राट अकबर ने बनवाया था। उसकी निगाह कितनी दूरदर्शी थी, गोया वह सदियों पहले जानता था कि चीन की तरफ़ से हमला होगा तो यहाँ पहुँचते-पहुँचते तो रुक ही जायगा—कुछ दरिया रोक लेंगे, रहा-सहा यह क़िला रोक लेगा। यही वजह है कि जमुना का पानी आज तक इस क़िले के पैर धो-धोकर पीता है।

पीछे इलाहाबाद का शहर है। न मालूम इसे किस फ़क़ीर की दुआ लग

गयी कि हर साल गंगा और जमुना में बाढ़ आने पर भी यह नहीं डूबता। दारागंज के आसपास कुछ झोपड़ियाँ, कुछ कच्चे मकान हैं, जिनकी बलि देकर यह फिर से अपने पाँव पर खड़ा हो जाता है, जैसे कोई ज़च्चा छठी नहा कर उठ खड़ी होती है। आज शहर पर कोई धुआँ-सा छाया है, या शायद लोगों की आहों का धुआँ है, जिस पर सर्द हवा की ऐसी मुहर लगी है कि वह उसे ऊपर नहीं उठने देती; नीचे ज़मीन रोकती है ऊपर आसमान टोकता है। लोग बड़ी ख़ुशी से घुट-घुट जाने वाली इन आहों को फिर से साँस बनाकर इस्तेमाल करते है।

दूर, बायीं तरफ़, इलाहाबाद का नया स्टेशन है, जो कुम्भ के मौक़े पर आने वाले अनगिनत यात्रियों के लिए बनवाया गया है और जिस पर हमारी सरकार के लाखों रुपये लगे हैं। कोई ज़रूरी नहीं, इस पर सिर्फ़ यात्री लोग ही उतरें, हम और आप भी उतर पड़ें तो कोई नहीं रोक सकता। यह लोक-राज है, जिस साँझीवाद की पोट लगी है। जैसे भंग को संखिया की पोट लगा दी जाय तो वह और भी तेज़ हो जाती है, उसी तरह हमारा यह लोक-राज और भी नशीला हो गया है। स्टेशन के पीछे सिविल लाइन्स का इलाक़ा है, जो बना तो अंग्रेज़ गया, इस्तेमाल हम कर रहे हैं। मैं तो समझता हूं इसमें कोई शर्म की बात नहीं। उसने एक गिरजा भी बनवाया, जो बहुत पक्का है। पिछली सदी में छावनी के जितने अँग्रेज़ मरे उनकी रूहें इस गिरजे में इबादत करने आती हैं और ख़ुदा से दुआ करती हैं कि उन्हें बहुत ऐश-आराम से छुटकारा दिलवा कर एक बार फिर इलाहाबाद की छावनी में भेज दे।...तो गोया हर शाम पुराना इलाहाबाद तेल में सिर बसाये, गिलौरी मुँह में दबाये इस नये, मॉडर्न इलाहाबाद से गले मिलने चला आता है और कॉफ़ी या ह्विस्की पीकर, किसी मौलवी की तरह चोरी की मुर्ग़ी बग़ल में दाबें कहीं भी निकल जाता है।

मैं...मुझे भी इलाहाबाद ही का समझो, यूँ मैं बेला टिकई का रहने वाला हूँ जो यहाँ से पचास-साठ मील पर एक छोटा-सा गाँव है। बरसों पहले एक अहीर बुड्ढे ने बैठे-बैठे मनों ही सन बट डाली, सैकड़ों ही रुपये बनाये, लेकिन

सब-के-सब मेरी पढ़ाई पर डुबो दिये; खुद तो अन्धा हो गया, पर मुझे दिखाई देने लगा। यह काला अक्षर जो हमारे देश के बहुत-से लोगों को भैंस बराबर मालूम होता है, मुझे भूरी पड़िया नज़र आता है।

मैं, उस उल्टी तरफ़, बमरौली के हवाई अड्डे पर क्लर्की करता हूँ...दस बजे मुझे दफ़्तर पहुँचना है; लेट हो गया तो मेरा सैक्शन इन्चार्ज बहुत खफ़ा होगा। वह बेहद नर्वस आदमी है और ब्लड प्रैशर का मरीज़ भी। मुझे अपना तो कुछ नहीं, अलबत्ता मुझे गाली देते हुए वह काँपा, मुँह पर झाग लाया और गिर गया तो फिर मेरा क्या होगा? लेकिन ख़ैर...कोई बात नहीं। अभी बहुत टाइम है। फिर लोकपति के गाहक भी धीरे-धीरे बहुत कम होते जा रहे हैं...

हाँ, तो वहाँ बमरौली के हवाई अड्डे पर जब मैं आफ़िस के केबिन में बैठता हूँ तो खिड़की से मुझे हवाई जहाज़ उतरते-चढ़ते दिखाई देते हैं। रनवे छोटा होने की वजह से बड़ा जैट हवाई जहाज़ तो कोई नहीं आता, अलबत्ता छोटे-छोटे बीसों आते हैं। जैसे सीलचढ़े ग़ुसलख़ाने में रेत मक्खी अपने-आप पैदा हो जाती है, उसी तरह यह जहाज़ एकाएक आसमान के किसी कोने से टपक पड़ते हैं। अगरचे होते वे बहुत छोटे हैं लेकिन आदमी उनमें से बड़े उतरते हैं। कभी-कभी साँपों, रस्सा उछालने वाले मदारियों, हाथियों, राजाओं-महाराजाओं और नागा साधुओं की तलाश में बाहर से टूरिस्ट भी आ जाते हैं और हमें इस दर्जा ख़ुश देख कर दुखी भी होते हैं। बस, मेरा ताल्लुक़ बाहर की दुनिया से इतना ही है, या फिर मैं 'लीडर' अखबार पढ़ डालता हूँ।

अब लोकपति ज़्यादती कर रहा है। वह देखो उसने एक और गाहक को पकड़ लिया। मैं उसकी तरफ़ नज़रों के हाथ जोड़ता हुआ कहता हूँ, "दया करो लोकपति, मेरी हालत पर तरस खाओ!"

"अभी लो, बबुआ," लोकपति कहता है, "अभी पट से सफ़ाचट हुआ जाता है।" और अपने उस्तरे से वह गाहक के चेहरे पर दो-एक ख़ूबसूरत-से ख़त बना देता है।

"मुझे दफ़्तर जाना है।"

"सभी को जाना है बबुआ, सभों को जाना है।"

और लोकपति की आवाज़ में हार से मिली-जुली एक फ़लसफ़ियाना (दार्शनिक) -सी जीत है, जिसकी बुनियाद हमारे सदियों के पुराने ग्रन्थों और शास्त्रों पर क़ायम है। मालूम होता है इस वक़्त वह मेरे दफ़्तर की नहीं भगवान् के घर की बात कर रहा है, मर कर जहाँ सभी को जाना है।

सवा आठ हो गये, ज़िन्दगी बीतती जा रही है, दफ़्तर बीतता जा रहा है। यहाँ से घर, घर से दफ़्तर, दफ़्तर से श्मशान—बीचमें आदिकाल से थकी-हारी बीवी से झपटमार की बजाय खाना खाना—खाना भी वह जो पुकार-पुकार के कह रहा है—खा न खा न...सिवाय गोद के बच्चे के बाक़ी के सब या तो स्कूल जा चुके होंगे और या बाहर मिट्टी में रुल रहे होंगे। मैं तो कहता हूँ रुल ही जायँ तो अच्छा है।...अरे हाँ, एक बात तो आपको बतायी ही नहीं। मैं जवाहर नगर में रहता हूँ, जिसे बने बहुत अरसा नहीं हुआ, इसलिए सारे-का-सारा नगर धूल और मिट्टी से अटा है। मैं मिट्टी को बहुत पसन्द करता हूँ। एक तो इसलिए कि मेरा और आपका, सब का ख़मीर मिट्टी से उठाया गया है और दूसरे इसलिए कि जब तक किसी बच्चे को मिट्टी का चुम्बन न मिले वह साला पनपता ही नहीं। बीस रुपया महीना पाने वाले ट्यूशनों पर जीने वाले स्कूल के टीचर इस बात के महत्व को क्या समझें! ज़रा किसी बच्चे के कपड़ों पर मिट्टी देखी, उल्टे माँ के पास भेज दिया, जो पहले ही गर्भवती है। औरतों की ज़बान में, मेरी पत्नी पायजामे से भी छू जाय तो उसे पेट हो जाता है।

नीचे डाइक ही भुरभुरी है या शायद दफ़्तर से लेट हो जाने का डर है, जिसके कारण ज़मीन पाँव-तले से सरकती हुई नज़र आती है। मालूम होता है जैसे बरसों पहले, कुम्भ के मेले पर जो सैकड़ों-हज़ारों लोग स्टाम्पीड में दब गये थे, उनमें से कोई बच गया और अब मनों मिट्टी को सर पर से हटाते हुए बाहर आने की कोशिश कर रहा है।...सुन रहे हो?...मालूम नहीं होता जैसे दूर, नीचे से एक कोरस की आवाज़ आ रही है—आहिस्ता चल, हो सके तो चल ही मत! तेरे क़दमों के नीचे हज़ार जानें हैं।

लोग जैसे पाताल से निकलने का जतन कर रहे हैं। क़िले के अन्दर जहाँ बन्दर हैं, नीचे बहुत से मन्दिर हैं—कोई कृष्ण जी का, कोई महावीर जी का, और कोई काली माई का। वे सब क़िले में, ज़मीन के नीचे कुछ यों दबे हुए हैं कि उनके अन्दर जाने से भी डर आता है। लेकिन अगर इन्सान आसमान को थिगली लगा सकता है, चाँद-सितारों से गले मिल सकता है तो क्या नीचे पाताल तक ही नहीं पहुँच सकता? उस बैल के सींगों को नहीं छू सकता जो सदियों से हमारी इस धरती का बोझ उठाये खड़ा है। और वह भी एक सींग पर! जिसके कारण हमारी ज़मीन सूरज के चारों ओर टेढ़ी घूमती है और बेकार के मौसम बनाती रहती है। आज पूस का जाड़ा है, कल झुलस देने वाली लू चल रही है...। अभी बारिश से बरबाद हो रहे हैं, फिर ओड़ लगने से मर रहे हैं...। अब के जो लोग पाताल से आये हैं, अजीब-सी ख़बरें लाये हैं। उनका कहना है बैल बस सींग बदलने ही वाला है, जिससे सारी दुनिया हिल जायगी; सब तहस-नहस हो जायगा। नीचे का ऊपर, ऊपर का नीचे, दायें का बायें...देर तक ज़मीन काँपती रहेगी और आख़िर थम जायगी और सदियों तक थमी रहेगी। फिर बैल उसी वक़्त सींग बदलेगा जब साइन्स इतनी तरक़्क़ी कर जायगी कि हल धरती पर चलने की बजाय धरती हल पर चलने लगेगी; औरत के पेट में ख़ाली हवा रह जायगी और मर्द के पेट में बच्चा।...

लोकपति का नया गाहक चिल्ला रहा है। बात यह है इस नये गाहक की हजामत शुरू करके, उसके चेहरे पर तीन-चार खूबसूरत से खत लगाकर लोकपति ने उस ग़रीब को बीच ही में छोड़ दिया है और एक नये गाहक को पकड़ लिया है। अब वह पहला गाहक लोकपति से लड़ रहा है और उसे गाली दे रहा है।...अरे! यह क्या हुआ? दुहाई लाट साहब की! ...वह पहला गाहक चुपके से चल दिया। वह...वह मेरी तरफ़ आ रहा है!

मैं—मैं उसे जानता हूँ।...

"उग्र?...उग्रसेन!...

"हाँ, जलतोरी!...तू यहाँ कैसे?" वह मुझे देखते हुए कहता है।...यँ

मेरा नाम विधानचन्द है, लेकिन मेरे वेजीटेरियन होने की वजह से वह हमेशा मुझे जलतोरी ही कहकर पुकारता है। और मैं भी उसे नहीं बताता कि जल-तोरी असल में मछली को कहते है, जो माँस से बनी हुई है। अगर रोहू और कतला हो तो फिर उसमें नाम के लिए रीढ़ की हड्डी होती है और अगर कहीं ट्राउट हो तो रीढ़ की हड्डी होती ही नहीं। फिर उग्र के मुझे जलतोरी पुकारने की एक और भी वजह थी! पिछले चुनाव में मैंने कांग्रेस को वोट दिया था। आज तो वह लोकपति पर खफ़ा था, वरना हमेशा वह मुझे माँ-बहन की यह मोटी-मोटी गालियाँ दिया करता है...मेरा जिगरी दोस्त है।

मैं कहता हूँ, "भाई, मैं तो स्नान करने आया था, सोचा हजामत भी क्यों न बनवाता जाऊँ! अपना उस्तरा ज़रा कुन्द हो गया है।...कोई सिल्ली ही नहीं मिलती उसे लगाने, तेज़ करने के लिए।"

"तुम भी सेफ्टी इस्तेमाल नहीं करते?" उग्र मुझसे पूछता है।

"आं हँ..." मैं कहता हूँ, "सेफ्टी के साथ मज़ा नहीं आता।...

"छिः!" उग्र सिर हिलाते हुए कहता है, "यह हम ऐसे अनसाइंटिफ़िक लोगों ही के कारण है, जो इधर बीवियों को और उधर देश-भर को मुसीबत खड़ी हुई है। दिन-दूनी रात चौगुनी आबादी बढ़ती जा रही है हम ऐसों की।"

"तो फिर क्या करना चाहिए?"

"तुम्हारे और मेरे-जैसे लोगों को तो ख़स्सी कर देना चाहिए।...इससे तो अच्छा है, हजामत के लिए वहाँ सैलून चले जाया करो।"

"ना भैया," मैं कहता हूँ, "सैलून महँगा पड़ता है। घर ही अच्छा है।...तू आज इनके चक्कर में कैसे पड़ गया?"

"क्या बताऊँ यार," उग्र दाढ़ी के अनकटे हिस्से पर हाथ फेरते हुए कहता है, "मऊनाथ से मेरे मौसा दीनानाथ आये थे। कहने लगे संगम पर नहायेंगे। मैंने कहा, नहाइए, मेरा क्या जाता है? जब तक मैं हजामत बनवा लूंगा...। और यूँ मैं इन कमीनों के चक्कर में फँस गया।" और मैं उग्रसेन की तरफ़ देखकर हँसता हूँ। लोकपति ने उनके चेहरे पर क्या डाक बँगला बना

दिया है—यानी कि मकान भी है और लॉन भी है। एक तरफ़ सफ़ेदी, दूसरी तरफ़ स्याही—मालूम होता है अपने ही साथ मुँह काला किया है...। और फिर अचानक मेरी हँसी बन्द हो जाती है। मैं भी तो ऐसा ही बौड़म लग रहा हूँगा। उग्रसेन कहीं मुंह नहीं दिखा सकता तो मैं भी दफ़्तर नहीं जा सकता।

एक हमदर्दी भरी नज़र से उग्रसेन की तरफ़ देखते हुए मैं अपनी बाँहें उसके गिर्द डाल देता हूँ और कहता हूँ, "कोई बात नहीं दोस्त! ज़िन्दगी में ऐसा भी हो जाता है।"

"ज़िन्दगी की ऐसी तैसी!" उग्रसेन एकदम आगबबूला होकर कहता है। बजाय इस बात के कि उसकी तसल्ली हो, मेरे ये शब्द उसकी जलती पर तेल का काम कर जाते हैं और वे गालियाँ जो उग्र मुझे दिया करता था, हज्जामों को देने लगता है। "इनकी माँ . हर बात में नफ़ाखोरी। इसी ने पूरे देश का बेड़ा ग़र्क़ कर दिया है।" और फिर एक और गाली, पहली से ज़रा छोटी उम्र की और कुआँरी।...मुझे बड़ी जलन होती है। मालूम होता है मेरी बजाय उसने लोकपति को अपना साला बना लिया है।

"सुनो उग्र," मैं पूछता हूँ, "तुम कबसे अहिंसा के क़ायल हो गये।"

"क्या करता?"

"अरे, लगाते पकड़ के उसे दो-चार।"

और ऐसा करने में मैं अपना मुक्का ज़ोर से हवा में घुमाता हूँ। मुँह में गालियाँ मिनमिनाता हूँ जैसा कि नामर्द लोग करते हैं।..."क्यों तुमने उसकी पिटाई नहीं की?"

"कैसे करता?" उग्रसेन हज्जामों की तरफ देखते हुए कहता है, "ये सामने कैसट है ना, इनमें जितने बैठे हैं सबके हाथ में एक-एक उस्तरा है।"

फिर हम दोनो मिलाकर हँसने लगते हैं, एकाएक खफ़ा हो उठते हैं और फिर एक-दूसरे के लँडूरे मुँह की तरफ देख कर खिली मार उठते हैं। आख़िर इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जैसे कैसे भी हैं अपने देश के

नाई हैं। हमारे बेटे-बेटियों का यही रिश्ता लाने वाले हैं । हमें इनसे सामने का झगड़ा नहीं मोल लेना चाहिए । आख़िर तो अपना गला इन्हीं के हाथ आना है।...

संगम पर औरतें नहा रही हैं । उनमें से एक का भी जिस्म अच्छा नहीं। किसी का पेट लटका हुआ है, किसी की ताके ऊपर उठी हुई मालूम होता है नेशनल बैंक का मैनेजर है जो ऊँची कुरसी पर बैठा हुआ पब्लिक के साथ बिज़नेस कर रहा है। एक बुढ़िया है, शहर के ग्वालों ने जिसकी ममता की आख़िरी बूँद तक निचोड़ ली और भरे-बाज़ार बेच डाला। पीठ से लगा हुआ उसका पेट, सूखी मरघिल्ली टाँगें और ठुँठ-सी बाहें, जो देखने में ऊपर उठ कर सूरज भगवान को अंजली अर्पित कर रही हैं, लेकिन असल में लपक-लपक कर केन्द्रीय सरकार के खाद्य-विभाग की जान को रो रही हैं। जैसे हमारी तस्वीर 'पाथेर पंचाली' विदेश पहुँची है और वहाँ के लोगों ने बहुत पसन्द की है, उसी तरह बाहर के लोग इस बुढ़िया की तस्वीर देख कर बहुत खुश हों। फ़ोटोग्राफ़ी में दुनिया का सबसे बड़ा इनाम उसे मिले और दुनिया-भर के देशों से ग़ल्ले के जहाज़ कहीं और जाने की बजाय हिन्दुस्तान की तरफ़ पलट पड़ें।...अच्छी औरतें हमारे मुल्क में कहीं रह गयीं? वे तो अब सिर्फ़ कलेण्डरों पर दिखाई देती हैं, बशर्ते कि वे भी सम्मेलन प्रेस में छपे हों।... अरे नहीं भाई, अब भी कहीं कोई एकाध दिखाई पड़ ही जाती है ।...वह देखो सामने ।...एक नौजवान लड़की भी है, ताज़ा खिली हुई कली की तरह । चलो एक तो है, जिसने सुबह के ख़ाली दृश्य को भर दिया और राम-धुन की सपाट और थका देनेवाली आवाज़ में कम्पन पैदा कर दिया ।...वह साड़ी समेत नहा रही है, लेकिन बेचारी, शर्म की मारी, साड़ी के बग़ैर भी होती तो नंगी नज़र आती?...पानी की वजह से कपड़ा उसके बदन के साथ चिपक-चिपक जाता है, इधर-उधर देखती हुई, जिसे वह बार-बार अपने आपसे अलग करती है। हिन्दुस्तानियों की पूरी क़ौम की तरह वह अपने शरीर को अपवित्र और गन्दा समझती है और इस ग़लतफ़हमी में है कि गंगा का पानी उसके औरतपने की, गन्दगी और मैल को धो डालेगा, उसके शरीर को पवित्र कर देगा।...

कोई भी पानी उसके शरीर को पवित्र नहीं कर सकता क्योंकि वह पानी, जिससे जीवन बना है, उसमें वह खुलकर नहा नहीं सकती। उसमें नहाये बग़ैर भी नहीं रह सकती। उसके भाइयों की इस भावना को कोई दूर नहीं कर सकता कि वे जी रहे हैं तो कितना बड़ा गुनाह कर रहे हैं। इनके दिमाग़ की गहराइयों में यह चीज़ बस चुकी है कि गाय के दूध पर सिर्फ़ बछड़े का हक़ है और वे दूध पिये बग़ैर नहीं रह सकते, बछड़े के साथ पाप किये बग़ैर भी नहीं रह सकत।...

हाँ, यह दुनिया पाप का घर है, जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली को खा रही है। साँस भी लेते हैं तो हज़ारों कीड़े हवा के साथ अन्दर जाते हैं, मर जाते हैं। क्या कोई उपाय नहीं, पुराण और शास्त्र का कोई सूत्र ऐसा नहीं, जो इस सच को झुठला सके कि जीवन का आधार जीवन पर ही है? चलो, ज़िन्दा रहने के लिए अगर ज़िन्दगी लेना ही ज़रूरी है तो कम-से-कम तत्वों का नाश किया जाय। मर्द में पाँच तत्व होते हैं। होते औरत में भी पाँच ही हैं, लेकिन हर दूसरे साल ख़ाक और ख़ून में लिथड़ने, बच्चे पैदा करने, घर-बार में उलझे रहने की वजह से आखिर साढ़े चार रह जाते हैं। गाय, घोड़े और बकरी में चार, मुर्ग़ी, बटेर में तीन, कीड़े-मकोड़ों में दो और फल-सब्ज़ी में एक...इसलिए फल-सब्ज़ी ही से पेट का नरक भरना अच्छा। आख़िर एक ही तत्व का नाश होता है न!...

अरे, याद आया।...मिट्टी हालाँकि उपजाऊ होती है इस पर भी उसमें आधा या कोई भी तत्व नहीं होता। इसलिए मिट्टी खाना चाहिए। मैं, विधानचन्द, पुरखों से अच्छा हिन्दू होने के कारण कल से मिट्टी ही का भोजन किया करूँगा।

किश्ती वाले धड़ाधड़ श्रद्धा-मारे लोगों को बीच मँझधार में ले जा रहे हैं, जहाँ गंगा, जमुना और सरस्वती मिलती है। पण्डे लोग पूजा के फूल टोकरियों में लिये उन्हें दे रहे हैं और तरह-तरह के बहानों से पैसे बटोर रहे हैं। हाँ फूल ज़मीन पर थोड़े उगते हैं। वह ज़माना गया जब कमल अपने-आप खिल जाया करते थे और धरती का उल्लास ऊपर चला जाया करता था और उसकी

छातियों पर मोतिया और कर्ने और मरवा के साथ-साथ- चमेली, गुलाब और सदबर्ग के बेल-बूटे बना दिया करता था।

यह लीजिए नौ बज गये। अब हम ज़िच होने लगे है।

मैं और उग्रसेन दोनों टहलते हुए लोकपति की तरफ़ जाने लगते हैं। तभी लोकपति का तीसरा गाहक भी अपनी तरफ़ आता हुआ नज़र आता है। हालांकि मैं उसे नहीं जानता, लेकिन शक्ल ही से वह अपनी बिरादरी का जान पड़ता है! वैसे ही आधा मुंडा हुआ, वैसे ही दो-चार ख़त चेहरे की बाँयी तरफ़ लगे हुए।...मैं ज़रा हिम्मत करके आगे बढ़ता हूँ और उससे पूछता हूँ:

"क्यों भैया, क्या हाल है?"

"अच्छा है," वह कुछ झेंप कर कहता है।

"क्या देख रहे हो?"

"यही—दुनिया के रंग।"

और फिर वह दाढ़ी के अनकटे हिस्से पर हाथ फेरने लगता है। क्या देखते हैं कि हम तीनों हँस रहे हैं और फिर एकाएक तीनों ही ख़फ़ा हो उठते हैं। मैं उग्र से कहता हूँ, "यह ठीक है कि लोकपति के हाथ में उस्तरा है लेकिन अगर हम तीनों मिल कर उस पर झपट पड़ें तो वह हमारी दाढ़ी साफ़ करे या न करे, हम ज़रूर उसकी तबियत साफ़ कर सकते हैं।

उग्रसेन शक और शुबहे की निगाह से मेरी तरफ़ देखने लगता है जैसे कह रहा हो, 'तीनों मिलकर?' मानो हम तीनों कभी मिल ही नहीं सकते और अगर मिल गये तो फिर हम हिन्दुस्तानी नहीं; ज़रूर हममें से किसी की नसों में विदेशी ख़ून दौड़ रहा है।...अगर मुझे दफ़्तर न जाना होता तो भाई मैं तो ज़रूर उनके साथ मिल जाता। हाँ, यह तीसरा भाई हमारा—भगवान जाने इसकी क्या आइडियोलौजी है?

हमारा तीसरा भाई बमकारने लगता है। वह लोकपति और उसके साथियों के ख़िलाफ़ ज़हर उगलने लगता है: "यह लूट-खसोट, यह नफ़ाख़ोरी ग़ैर-क़ानूनी है, डेमोक्रेसी के ख़िलाफ़ है। हमें इसके ख़िलाफ़ आन्दोलन चलाना चाहिए, विद्रोह करना चाहिए।" और फिर वह दूर ही से हज्जामों को

धमकियाँ देने लगता है। जब वह शुरू हुआ था तो मैं समझा उसके हाथ में उस्तरे से भी तेज़ कोई हथियार होगा, जिसे घुमाते हुए वह ज़ोर से ललकारेगा। दुनिया-जहान के इन मुंडे लोगों को उकसा, भड़का कर अपनी मदद के लिए आमादा करेगा और लोकपति और उसके साथियों का ख़ून कर डालेगा। लेकिन यह जान कर दुख भी हुआ और हँसी भी आयी कि वह भी हमारी तरह पार्लामेंटरी डेमोक्रेसी का भक्त हो गया है। जहाँ हम भाषण दे-देकर हार चुके हैं वहाँ वह नया भरती होने की वजह से अभी तक जोश में भरा हुआ चिल्ला रहा है, ज़मीन से चार-चार फुट ऊपर उछल रहा है।

"यह लोकपति," वह कहता है, "कहीं बाहर से दो अक्षर क्या पढ़ आया है, अपने-आपको ख़ुदा समझने लगा है। दुनिया-जहान की बहू-बेटियों से आँखें लड़ाता फिरता है और नहीं जानता इसके अपने घर में क्या हो रहा है। जब वह अपने काम में व्यस्त होता है, उसकी बीवी स्टीलवाले एक सेठ के साथ रास रचाये रहती है, लड़की एक सटई के पीछे भागती फ़िरती है और लड़का चोरबाज़ार के कोठों का चक्कर लगाता है।"

यह तीसरा भाई हमारा यहाँ के सब हज्जामों को जानता है, सबके कच्चे चिट्ठे खोल-खोल कर हमारे सामने रखता है। यह इसी ने बताया कि इनमें तीन-चार अच्छे हज्जाम थे, जो पूरी इजामत बनाने के क़ायल थे। लेकिन बदक़िस्मती से वे एक-एक करके मर गये और या बाक़ियों के शोर मचाने की वजह से निकाल दिये गये। वे सब लोकपति के दोस्त थे और उनकी वजह से लोकपति सब-कुछ कर सकता था, क्योंकि उसकी सूझ-बूझ अच्छी थी, नीयत साफ़ थी; लेकिन उनके चले जाने के बाद अब वह अकेला रह गया है। विवश हो उसे दूसरों की हरकतों पर ख़ामोश रहना पड़ता है और कभी वह ख़ुद भी वही करने लगता है जो उसके बाक़ी के हज्जाम साथी करते हैं।

इन हज्जामों के अलावा दूसरे जो दड़बों से बाहर बैठे हैं, इस खेल के क़ायदे-क़ानून से परिचित हो चुके हैं। इलाहाबाद १६९ जिसके नीचे कहीं सरस्वती बहती है, किसी ऐसे आदमी को अपने अन्दर जगह नहीं दे सकता,

जो पढ़ा-लिखा न हो। अगर इत्तफ़ाक़ से कोई अनपढ़ आ भी जाय तो कुछ ही दिन म वह इतना पढ़ जाता है कि यूनीवर्सिटी का कोई भी अच्छे-स-अच्छा विद्यार्थी उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता। इलाहाबाद के हज्जाम आदमी बड़े मज़े के हैं। ख़ूब दूर की सोचते हैं, लम्बी-चौड़ी योजनाएँ बनात हैं, जिनमें से पूरी एक भी नहा कर पात। बस भाषण देत है और सिफ़ भाषण। भाषा के सवाल पर राय ज़रूर रखत हैं, लेकिन उसे असली जामा पहिनाना तो एक तरफ़, नंगा भी घूमन नहीं देते। आपस म मिलकर कुछ गोष्ठी सी करते रहते हैं।

इनमं से एक कवि है, जिसका नाम चन्द्रभान है और जिसने अपने नाम के साथ 'वियोग' जोड़ लिया है। हिन्दीके छन्द से उर्दू को अकलमन्द बनाता है। तबियत इस क़दर हाज़िर है कि अप्सरा की बजाय देव-बालकों को पसन्द करता है? जानता है न कि औरत स प्यार तो एक क़ुदरती बात है लेकिन मर्द से प्यार सर्वोच्च कला।...

एक दिन बैठे-बैठे चन्द्रभान 'वियोग' ने बहुत पी ली और नशे के आलम में बहुत रोया। उस यक़ीन हो गया कि वह पैग़म्बर है। हाय! दुनिया ने नहीं समझा। मैंन कहा, "कोई बात नहीं वियोग जी, दुनिया आज नहीं तो कल समझ लेगी।"...फिर मधु-मदिरा के सब रहस्य चन्द्रभान 'वियोग' पर खुल गये। और वह नशे में धुत्त रहने लगा। अब वह जीवन के रंग मंच पर आता तो खूब ही लड़खड़ाता? लोग उसके लड़खड़ाने को भी अभिनय की एक क़िस्म समझते, जिस नाचते-नाचते उसके बाक़ी के साथी तो रंगमंच के एक विंग म गये, सो गये।...

कुछ ही बरसों की बात है कि इलाहाबाद के इन हज्जामों में पंजाब का एक हज्जाम आ गया। बस, फिर क्या था। सब लट्ठ लेकर उसकी तरफ़ दौड़े और निकाल फेंकने की तरकीब लड़ाने लगे। लेकिन वह भी एक ही बदमाश था। बाक़ायदा सीना तान कर सामने खड़ा हो गया। अगर किसी ने एक उस्तरा निकाला तो उसने दो निकाल लिये। बाक़ी के हज्जाम डर कर बैठ गये और सामने होकर लड़ने की बजाय नीति की बातें करने लगे। वह

घाघ सब-कुछ समझ गया। उसने अपने कैबिन के पीछे से कुछ तख़्ते निकाल-कर एक खिड़की बना ली और उस पर एक बोर्ड लगा दिया : "कौशिक चैरिटेबिल होमियोपैथिक डिस्पेंसरी।" और कुछ दवाई की शीशियाँ रख लीं—मदर टिंकचर, छः एक्स पोटेंसी, तीस, दो सौ, हजार, पचास हज़ार, लाख की पोटेंसी। बस फिर क्या था। आस-पास के ग़रीब-गुरबा, बिना पोटेंसी के सब लोग, इलाज के लिए उसके पास आने लगे। दूसरे हज्जाम लोग बिदके। एक मीटिंग करके उन्होंने उसके ख़िलाफ़ फ़ैसला कर लिया, लेकिन तब तक कौशिक कमेटी का समर्थन प्राप्त कर चुका था, उससे ग्रांट भी ले चुका था। अब उसे वहाँ से कोई न हिला सकता था। चुनांचे आज तक वह वहाँ बैठा उनकी छाती पर मूंग दल रहा है। बजाय इसके कि बाक़ी के हज्जाम उसका कुछ बिगाड़ सकें, अपने भी बेटे-बेटियोंके रिश्ते, नाई होने के नाते, उससे करवाते हैं।...

इस पर तुरफ़ा उनके बीच एक सिख हज्जाम भी चला आया। लोग समझते थे उसका कारोबार क्या चलेगा, जिसकी अपनी शेव नहीं बनी है। लेकिन साहब, जो अन्दाज़ सयाने का होता है, दीवाने का नहीं होता। उल्टा उसके पास ज़्यादा गाहक आने लगे। वे जानते थे न कि बालों के बारे में जितना यह जानता है कोई दूसरा जान ही नहीं सकता। अगर उसे बालों से मुहब्बत होगी तो ऐसी प्यारी शेव बनायेगा कि राह जाती लड़की गाल-से-गाल रगड़ेगी, और नफ़रत होगी तो यों खूंटी से उखाड़ फेंकेगा कि सात जनम तक न ठोड़ी पर बाल उगेंगे, न दिमाग़ में ख़याल पैदा होगा।...

यह तीसरा भाई हमारा संगम के नाइयों के बारे में और भी बहुत कुछ कहना चाहता है, लेकिन मैं उग्रसेन को आँख मारता हूँ और कहता हूँ, "भाई, मैं तो चला, साढ़े नौ हो गये।"

उग्र हैरानी से मेरी तरफ़ देखते हुए कहता है, "ऐसे ही चल दोगे, जलतोरी?"

"क्या करूँ?" मैं कहता हूँ, "गया तो बीबी ही चली जायगी ना, नौकरी तो नहीं जायगी।"

और हसरत की नज़र से लोकपति की तरफ़ देखते हुए मैं चल देता हूँ, जिसके पास अभी तक गाहकों का ताँता बँधा है। मेरे मन में यह विचार चुटकी लेता है कि शायद लोकपति अब भी मुझे बुला ले और अगले पाँच मिनट में नक-सुक से दुरुस्त हो कर जाऊँ। लेकिन साहब, लोकपति को कहाँ फ़ुरसत है।...और मैं रिक्शा लेकर घर पहुँच जाता हूँ।

विद्या, मेरी पत्नी, मेरा इन्तज़ार कर रही है।

"हाय जी, क्या हुआ ?" वह चौखट पर मेरी आहट सुनती हुई बोल उठती है।

"क्या हुआ क्या !" मैं पूछता हूँ।

"कहाँ भाँग पी कर पड़ गये !"

मैं कोई जवाब नहीं देता, लेकिन वह कहे जाती है, "इतना भी न सोचा दफ़्तर का वक़्त हो गया। तुम्हें तो बस कोई बातें करने को मिल जाय..." तभी उसकी निगाह मेरे चेहरे पर पड़ती है।

"मैया री," वह कहती है, "यह क्या !" और फिर वह दुपट्टा मुँह पर करते हुए हँसने लगती है। फिर इसी पर बस नहीं। पड़ोस में आवाज़ देती है, "जगन भैया, ऐ ज़रा इनको भी देखना।..."

मैं हाथ जोड़ देता हूँ, "विद्या भगवान के लिए..."

और फिर वह ख़ुद ही देखने के लिए हाथ मेरी दाढ़ी की तरफ़ बढ़ाती है।

"ख़बरदार !" मैं उसका हाथ झटकते, ख़फ़ा होते हुए कहता हूँ, "तू हाथ लगायगी तो मैं लात लगाऊँगा।"

और फिर मैं सोचता हूँ—इसमें बेचारी विद्या का क्या क़सूर। एक सर्द आह भरते हुए मैं उससे सिर्फ़ इतना कहता हूँ, "शुक्र करो तुम औरतों की हजामत किसी लोकपति ने नहीं, स्वयं त्रिलोकपति ने बनायी है।" और ऐसा कहने में मैं ऊपर भगवान की तरफ़ इशारा करता हूँ।

"हमें और थोड़ी मुसीबतें हैं !" विद्या कहती है, "तुम्हें तो सिर्फ़ एक हजामत बनवानी पड़ती है।"

इसके बाद विद्या खाना निकालने लगती है। मैं गुस्से से कहता हूँ, "मैं आज खाना नहीं खाऊँगा।"

वह हाथ मलते हुए कहती है, "हाय जी, क्या अनर्थ है! गिरे गदहे पर से और गुस्सा ग़रीब कुम्हार पर निकाल रहे हो?"

मैं फिर सोचता हूँ—खाने के साथ मेरा क्या झगड़ा?

"...अच्छा लाओ खाना।"

विद्या खाना परोसती है। मैं जल्दी-जल्दी कौर मुँह में डालता हूँ, जो ऊपर से नीचे जाने की बजाय, नीचे से ऊपर आने लगते हैं। मालूम होता है मैं खाना नहीं खा रहा, खाना मुझे खा रहा है या कोई न्यौली क्रिया करने बैठा हूँ। खाना खाते हुए, हमदर्दी—सिर्फ़ हमदर्दी—हासिल करने के लिए विद्या के सामने अपनी आजकी मुसीबत की दास्तान दोहराता हूँ। वह बेचारी भोली-भाली नहीं समझती कि उसके मुँह से निकला हुआ एक भी हमदर्दी का लफ़्ज़ मुझे कितना दुख पहुँचायेगा। मेरे बयान के आख़िर में वह कह उठती है:

"पुटकी पड़े इन मुए निगोड़ों पर...आज दफ़्तर मत जाओ।"

"क्यों?"

"ख़ामख़ाह क्यों तमाशा बनना।..."

इस पर मैं एकाएक भड़क उठता हूँ। क्या मतलब? मेरी शक्ल...मैं इसे भी तमाशा दिखाई दे रहा हूँ। कम-से-कम इसे तो यह नहीं कहना चाहिए था। मैं दफ़्तर नहीं जा सकता तो क्या घर भी नहीं आ सकता? और मैं विद्या को गालियाँ देने लगता हूँ, जो दरअसल मुझे संगम के नाइयों को देनी चाहिए थीं। विद्या अन्दर चली जाती है और मैं समझता हूँ मुझसे डर गयी। लेकिन वह बाहर आती है तो हाथ में एक कटोरी लाती है जिसमें गरम पानी है। दूसरे हाथ में शेविंग स्टिक और उस्तरा—सेफ़्टी नहीं, वही लोकपति वाला।...

मैं सोचता हूँ—चलो उस्तरा कुन्द है तो क्या, ज़रा ज़ोर से लगाऊँगा तो

सब ठीक हो जायगा। फिर बजाय इसके कि लोग मुझ पर हँसें मैं उन पर हँसूँगा। इसलिए जल्दी-जल्दी चेहरे पर झाग पैदा कर के मैं उस्तरा फेरना शुरू करता हूँ। लेकिन साहब उस्तरा है कि कहीं भी टिकने की बजाय ऊपर से यों फिसलता हुआ ठोड़ी पर आ जाता है जैसे पार्क में स्लिपिंग रोस्ट्रम से बच्चे एकदम फिसलते हुए नीचे आ रहते हैं।...मैं झल्लाकर पानी की कटोरी पटक देता हूँ, उस्तरा दूर फेंक देता हूँ।

"क्या बकवास है," मैं बमकारता हूँ, "यह उस्तरा ले कर दिया था तेरे मायके वालों ने ?"

"हाय जी," विद्या कहती है, "उन्होंने तो ठीक ही लेकर दिया था, तुम्हीं ने सिल्ली गुम कर दी...।"

"किसने सिल्ली गुम कर दी ?"

"तुमने...रोज़ निकाल बैठते थे।"

"झूठ...तुम ही इससे अरबी छीलती रही हो !"

विद्या खिसिया कर उस्तरा उठा लेती है। मैं पलट कर उसकी तरफ़ देखता हूँ तो साफ़ नज़र आता है कि वह दुपट्टे के पीछे अपनी हँसी को दबाने की कोशिश कर रही है और जब मैं उसे शुद्ध अंग्रेज़ी के लहजे में "शट अप" कहता हूँ तो मालूम होता है ग़लती से मैंने "बक अप" कह दिया। एक ठहाका वातावरण में गूँज उठता है और विद्या उस्तरे को हाथ में पकड़े हुए मुझे दिखाती है, "हजामत हो तो कैसे !...उल्टे ही उस्तरे से अपने-आपको मूँड़ते रहे—"

मैं देखता हूँ जल्दी के आलम में मैं सचमुच अपने मुँह पर उल्टा उस्तरा फेरता रहा था। विद्या कहती है, "ख़ामख़ाह मेरे मायके वालों का नाम बद किया"

"अच्छा, अच्छा," मैं झुँझलाकर कहता हूँ और फिर अपनी पूरी सभ्यता, अपने पूरे कर्म-धर्म, अपने विश्वासों को धिक्कारने लगता हूँ। विद्या बोल उठती है, "ख़बरदार, इसमें संगम का क्या क़सूर ! गंगा मैया का क्या दोष ! मैं तो कहती हूँ, मैं मर्रूँ।। मुझे जलाना मत, गंगा में मेरा जल-प्रवाह

कर देना ..."

और मैं यही सोचते हुए चल देता हूँ—गंगा में जल-प्रवाह ! कैसी मान-मर्यादा है यह ! कैसा पागल-पन है हमारी पूरी क़ौम का ? और मुझे याद आता है वह दिन जब मैं द्रोपदी घाट की तरफ़ गंगा में नहाने निकल गया था। सर्दी और गर्मी के बीच के दिन थे। गंगा में जब तक बाढ़ नहीं आयी थी और नदी मनों बालू छोड़कर ख़ुद किनारों से बहुत दूर चली गयी थी। मुझे नदियों और झरनों का बहुत शौक़ है। बावले कुत्ते का काटा हुआ जितना पानी को देखकर डरता है, उतना ही मैं पानी के दर्शन से ख़ुश होता हूँ। पहले किनारे के पास की चिकनी मिट्टी पेट पर मलता हूँ, जिससे शरीर के रोग़ तो क्या दिल और दिमाग़ की भी सारी उलझनें जाती रहती हैं। फिर एडोल्फ़ जस्टकास्टिनर बाथ लेता हूँ जिसमें कूल्हों तक को पानी में डुबो कर एक हाथ से पानी पेट पर डालता हूँ और दूसरे हाथ से पेट को ख़ूब ही ज़ोर से मलता हूँ। अन्दर आँतें तक हिल जाती हैं, मरे हुए टिश्यू भी ज़िन्दा हो जाते हैं। फिर किनारे पर खड़े होकर तौलिये की बजाय हाथ से पूरा शरीर रगड़ता हूँ। रोम-रोम जाग उठता है और बदन स्कूल की लड़की के बदन की तरह नर्म और चिकना हो जाता है। चूँकि नंगा होता हूँ और सब की तरफ़ देखता भी हूँ, इसलिए मेरी तरफ़ कोई नहीं देखता। बन्दर भी घबराकर भाग जाते हैं। शायद समझते हैं, हम से भी बड़ा कोई आ गया है। चुनांचे उस दिन बाथ लेने के लिए गया तो क्या देखता हूँ, एक इन्सानी खोपड़ी पड़ी है जिसके साथ रीढ़ की हड्डी लगी है। ज़रूर किसी विद्या की बहन या उसके भाई का जल-प्रवाह हुआ होगा। मुझे इसका इतना अचम्भा नहीं हुआ जितना इस बात का कि हाँय ! हम हिन्दुस्तानियों के भी रीढ़ की हड्डी होती है! ...यह नहीं हो सकता कि किसी और क़ौम का कोई आ कर यहाँ डूब मरा हो।...पर ऐसा हो तो दुनिया-जहांन में कुहराम मच जाय। और वहाँ के लोग 'रिग' लगाकर पूरी बालू को छान मारें और अपना मुर्दा निकाल लें।

इस खोपड़ी से कुछ परे होकर, किनारे पर कपड़े रखते हुए मैं पानी में उतरा तो क्या देखता हूँ कि पास ही एक फ़ुट के उज्ज्वल और पावन जल

में एक मुर्दा पड़ा है। मैं उछल कर बाहर आ गया और डर से काँपता हुआ मुर्दे की तरफ़ देखने लगा, जिसका जल-प्रवाह हुआ था और अब उसे जल की परवाह न थी। ... उसके बदन का गोश्त मछलियाँ खा चुकी थीं। अगर मैं भूलता नहीं तो मुर्दे के नुचे हुए चेहरे पर एक तरफ़ दाढ़ी थी और दूसरी तरफ़ सब सफ़ाचट था। आज के अनुभव से मैं इस बात का अन्दाज़ा करता हूँ कि मरने से पहले वह ज़रूर संगम पर गया होगा और वहाँ के लोकपति, चन्द्रभान या कौशिक से हजामत बनवाई होगी। ...ख़ैर, मैं अपने कपड़े पकड़ कर नदी के ऊपर की तरफ़ हो लिया ताकि इस शहीद मुर्दे के घिनावने बदन से लगा हुआ पानी मुझ तक न आये। एक बार फिर कपड़े रखकर नदी में उतरा ही था कि पानी में से दो टाँगें बाहर उठी हुई दिखाई दीं। मैं भाग आया और तब से मैंने द्रोपदी घाट तो क्या किसी सीता या सावित्री घाट पर भी नहाने का इरादा नहीं किया।—और यह विद्या, मेरी बीवी, एक अजीब तरह के पागल-पन में अपना जल-प्रवाह करने को कह रही है। ... न बाबा ! मैं नहीं चाहता मरने के बाद किसी की भी टाँगें यों पानी से बाहर उठी हुई हों।

बाज़ार जाता हूँ तो वहाँ एक मुसलमंटे से बड़ी लड़ाई होने लगती है। एक पल में ऐसा नज़र आने लगता है जैसे शहर-भर में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो कर रहेगा। लाशों के ढेर लग जायेंगे। यह बात नहीं कि वह मेरी तरफ़ देख कर हँस दिया। उसने कोई ऐसी बात नहीं की, अलबत्ता वह एक शेर गुनगुना रहा था।

ख़ूब परदा है कि चिलमन से लगे बैठे हैं
साफ़ छुपते भी नहीं, सामने आते भी नहीं

उसने सिर्फ़ एक बार मेरी तरफ़ देखा और मैंने समझा वह यह शेर मुझ पर चिपका रहा है। मेरी आधी मुँडी हुई दाढ़ी का मज़ाक़ उड़ा रहा है। मगर जब वह अल्ला रसूल की क़समें खाता है तब मुझे मानना ही पड़ता है कि वह यों ही अपने अकेलेपन में शे'र पढ़ रहा होगा और मैं अपनी नर्ज़ का शिकार उसे ग़लत समझ गया हूँगा।

मैं दफ़्तर पहुँचता हूँ—लेट !...और चुपके से अपनी सीट में जा दुबकता हूँ। यों काम में लग जाता हूँ, जैसे सुबह ही से मरने की फ़ुरसत नहीं और क़रीब दो घण्टे से इस दफ़्तरी मूर्च्छा की हालत में रहा हूँ। दफ़्तर के क्लर्क मेरी तरफ़ देखते हैं, खुल कर हँसते हैं और बार-बार मेरी कुशल-क्षेम पूछने के लिए आते हैं। इस अरसे में मेरा सेक्शन इन्चार्ज सिर्फ़ एक बार मेरे पास आता है। मैं बहुत कुछ अपना चेहरा उससे छुपाने की कोशिश करता हूँ, लेकिन तभी लाग-बुक के गुम हो जाने से जो हंगामा बरपा होता है उसकी वजह से, अपने-आपको भूलकर मुझे उसकी तरफ़ देखना ही पड़ता है। वह मेरी तरफ़ देखते ही कह उठता है, "आज तुम संगम पर गये थे।"

"जी, सर," मैं जवाब देता हूँ और मेरा हाथ जैसे अपने-आप चेहरे की तरफ़ उठ जाता है। मैं डरता-काँपता हूँ कि न मालूम अब वह मुझे क्या कहेगा ? लेकिन साहब वह एक ऐसी बात करता है कि मैं सोचता रह जाता हूँ कि इस बात का मेरी दाढ़ी से क्या सम्बन्ध ? वह कहता है, "कोई बात नहीं, लाग-बुक कल मिल जायगी।"...और वह चला जाता है।

मुझे कुछ समझ में नहीं आता। चेहरा कानों तक तमतमा उठता है और उसके अनमुँडे हिस्से पर एकाएक एक अजीब-सी खुजली होने लगती है। मैं जितना उसे खुजाता हूँ, उतना ही ऊपर से नीचे तक खुजली बढ़ती जाती है।

मैं काम के बीच से उठ कर अपना जी लगाने के लिए बाहर चला जाता हूँ। कुछ टूरिस्ट आते हैं जो मेरी तरफ़ बिलकुल नहीं देखते। बाहर के लोगों का यही होता है ना कि हिन्दुस्तानियों की तरह दूसरे के प्राइवेट मामलों में अपनी टाँग नहीं अड़ाते। उनमें से एक बेंच पर मेरे पास आ बैठता है और अपना एयर-बैग निकालकर एक तरफ़ रख देता है। फिर वह बज़ाहिर एक उड़ती हुई नज़र मुझ पर डालते ही अपना बैग पकड़कर उसमें से आइना निकाल, अपना मुँह देखने लगता है। यानी मेरा नहीं, अपना मुँह।...

मेरी समझ में कुछ आता है, कुछ नहीं आता। अगर सवेरे बाज़ार में उस मुसलमंटे से मेरी लड़ाई न होती तो शायद मैं इस गोरे क्रिस्तान से भी

भिड़ जाता। शायद मैं इसलिए चुप रहा कि इन गोरों का अब तक हम पर बहुत गौब है। यह भी हो सकता है कि आइना देखने का मेरी दाढ़ी के साथ कोई सम्बन्ध न हो। मैं इस कनफ़्यूज़्ड हालत में उसकी तरफ़ देख कर अपनी टूटी-फूटी अंग्रेज़ी में उससे बातें करने लगता हूँ—

"मैं आपका नाम जान सकता हूँ?"

"ज़रूर, ज़रूर," वह कहता है, "मेरा नाम रिचर्ड कैनेडी है," और फिर मेरे पूछे बिना वह कहे जाता है, "मैं अमरीका में कैंटकी स्टेट से आया हूँ। मेरे शहर का नाम बार्बरविल है।..."

मैं अपने-आपको परिस्थितियों के धारे पर छोड़ देता हूँ— साला आया भी है तो बार्बरविल से।...या शायद मेरी दाढी की तरफ़ देखकर उसने फ़र्ज़ी क़स्बे का नाम ले दिया। बहरहाल, मैं फिर पूछता हूँ—

"इस वक़्त आप कहाँ से आये हैं?"

"बनारस से...मैं सारनाथ में बुद्ध का स्तूप देखने गया था," और यों अपना बयान जारी रखते हुए कहता है, "वहाँ से गाड़ी में आया हूँ और अब जहाज़ का इन्तज़ार कर रहा हूँ।"

"स्तूप अच्छा लगा आपको?"

"बहुत!" वह मेरी तरफ़ देखते हुए कहता है, "लेकिन मालूम होता है इण्डिया में लोग पुरानी ऐतिहासिक चीज़ों को ठीक से सम्हालकर नहीं रखते। देखो ना, उसके एक तरफ़ सूखी-सी घास उगी हुई है।..."

इससे पहले कि मैं उसकी बात पर रिएक्ट करूँ, लाउडस्पीकर पर से आवाज़ आती है, "योर एटेन्शन प्लीज़! फ़्लाइट टू-ओ-थ्री के पैसेंजर..."

रिचर्ड अपना बेग लिये उठता है। वह फ़िकरा अभी तक मेरे कानों में गूँज रहा है जो मुझसे विदा होने में हाथ मिलाते, मुस्कराते हुए उसने कहा, "मैं बेकार ही सारनाथ गया, स्तूप देखने के लिए!..."

दफ़्तर में जैसे-तैसे भी दिन कटता है। मैं वक़्त से पहले ही उठ कर चल देता हूँ, यह सोचते हुए कि चाहे मेरी पूरी जायदाद लग जाय, सैलून में जाकर हजामत बनवाऊँगा, फिर दुनिया का कोई और काम करूँगा। तभी मैं

अपने-आपको यूनिवर्सिटी हेयर कटिंग सैलून के सामने पाता हूँ जो ग्रैंड ट्रंक रोड पर होने की बजाय ख़ुल्दाबाद के एक कोने में है। सामने इस नाम का बोर्ड लगा है और नीचे लिखा है—प्रोप्राइटर नासिर हुसेन।

अन्दर घुसते ही मैं एक ऐसी कुर्सी पर जा बैठता हूँ जिसमें मुझे माँ की गोद का-सा आनन्द मिलता है।

नासिर हुसेन मेरे पास आता है। इससे पहले कि वह अपने हाथ का तौलिया मेरे गले में बाँध दे, वह मुझसे पूछता है, "आप शिया हैं या सुन्नी?"

"जी?" मैं हैरान होता हूँ।

"मैं पूछता हूँ आप शिया मुसलमान हैं या सुन्नी।"

"क्यों भाई," मैं कहता हूँ, "हजामत का शिया-सुन्नी से क्या ताल्लुक़?"

"माफ़ कीजिए, ...मैं सुन्नियों की हजामत नहीं बनाता।"

"आप शिया हैं?"

"हाँ!"

"तब तो उल्टा आपको सुन्नियों की ख़ूब ही हजामत बनानी चाहिए।... वैसे तो मैं हिन्दू शिया हूँ, विधानचन्द नाम..."

"ओ," नासिर हुसेन कहता है, "फिर ठीक है। मुझे सिर्फ़ सुन्नियों से नफ़रत है। उनसे तो हिन्दू ही लाख दर्जा अच्छे हैं।"

और फिर वह तौलिया मेरे गले मढ़ देता है और सुनता ही नहीं कि मुझे हजामत बनवाना है, बाल नहीं कटवाना। आख़िर उसे पता चल जाता है और वह शेविंग ब्रश लेकर मेरी तरफ़ बढ़ता है। तभी मेरे चेहरे की तरफ़ देखकर वह एकदम रुक जाता है।...फिर ग़ौर से देखता है और ब्रश और शेविंग स्टिक को एक तरफ़ रख देता है और कहता है :

"आप उठ जाइए!"

"क्या मतलब?" मुझे बहुत सदमा होता है और मैं कहता हूँ, "कहा न, मैं सुन्नी नहीं।"

"सुन्नी-वुन्नी की बात नहीं।"

"तो फिर · क्या बात है ?"

मैं, जो खुशी के उस गुब्बारे पर सवार था, जो लखनऊ में पहली बार किसी अंग्रेज़ ने उड़ाया था, उसके पंकचर हो जाने से एकदम भू—ऽ—ऽ नीचे आ रहता हूँ। नासिर हुसेन कहता है :

"किसी और ने आपकी शेव शुरू की थी ?"

"हाँ," मैं कहता हूँ, "लोकपति ने, संगम पर ..ग्रेट आदमी है।"

"कुछ भी हो," नासिर हुसेन अपनी आवाज़ में अंडिगता पैदा करते हुए कहता है, "कितना भी ग्रेट हो, लेकिन बात यह है...किसी के चेहरे पर, कोई-सा भी हज्जाम, एक बार कैसा भी ख़त लगा दे, कोई दूसरा हज्जाम उसे टच नहीं कर सकता। यह हमारी यूनियन का क़ानून है।"

"आपकी यूनियन की ऐसी-तैसी," मैं एकदम आग-बबूला होकर कहता हूँ। "एक तरफ़ हमारे हाकिम हैं, दूसरी तरफ़ कामगार, मज़दूर, और उनकी यूनियनें।...बीच में हम लटक रहे हैं।...क्या आपने किसी बुज़ुर्ग से नहीं सुना—मरो और मरने दो ! हम जायें तो कहाँ जायें !"

"बाहर," नासिर हुसेन कहता है।

मैं एकदम सब-कुछ भूल कर पहले बाहर की तरफ़ देखता हूँ और फिर उसकी बात का अर्थ समझता हूँ। मुझे उम्मीद ही न थी कि यूनिवर्सिटी हेयर कटिंग सैलून का नासिर हुसेन आज़ादी के बाद मेरे साथ ऐसा सलूक करेगा। होश में आते हुए मैं नासिर हुसेन से कहता हूँ, "मैं तुम्हारी यूनियन के ख़िलाफ़ स्ट्राइक करवा दूँगा। भूख हड़ताल कर दूँगा। मैं...मैं पण्डित जी तक पहुँचूँगा जो यहाँ के रहने वाले हैं। अपने वतन में, इलाहाबाद में, एक बार आने दीजिए उन्हें। मैं उन्हें कहूँगा—पण्डितजी, यह सब क्या हो रहा है ! अभी तक, इस उम्र में, आपने देश का मामला ठीक न किया तो फिर बड़े होकर क्या करेंगे !"

और जब कुछ समझ में नहीं आता तो मैं नासिर हुसेन के सामने गिड़गिड़ाने लगता हूँ, "नासिरजी, आप मुझसे सौ रुपये...दस-बीस रुपये ले लीजिए लेकिन भगवान...नहीं, नहीं अल्लाह के लिए, एक बार मेरी हजामत

कर दीजिए। नहीं तो मैं दुनिया-जहान में कहीं भी मुँह दिखाने क़ाबिल नहीं रहूँगा।...सब मुझ पर हँस रहे हैं...एक मैं रो रहा हूँ।"

बजाय इसके कि नासिर हुसेन मेरी हालत पर रहम खाता, वह कहता है, "रात हो गयी, इस वक़्त कौन मुँह देखता है ?"

बेकार है, सब-कुछ बेकार है। इसलिए मैं कोई फ़र्ज़ी छड़ी उठाकर, फ़र्ज़ी हवा में उसे घुमाता हुआ, किसी फ़र्ज़ी घर की तरफ़ चल देता हूँ...।

रात-भर विद्या, मेरी बीवी, मेरे पास नहीं आती। मुझे यों मालूम होता है जैसे मैं कबूतर हूँ जिसे किसी ने लाल रंग लगा दिया है, या चिड़ा हूँ जिसके गले में किसी ने लाल फुँदना बाँध दिया है और अब मेरे ही रिश्तेदार मुझे अपने ही घर में घुसने नहीं देते। चोंचें मार-मार कर लहू-लुहान कर रहे हैं, काट-काटकर भगा देने की कोशिश में हैं। तड़के ही उठ कर मैं संगम की तरफ़ चल देता हूँ और लोकपति के पास पहुँच कर हाथ जोड़ देता हूँ, "हे लोकपति, भगवान के लिए मेरी हजामत बनाओ। तुमने कबसे मुझे इस हालत में लटका रखा है। न जीता हूँ, न मरता हूँ।...हालाँकि मैंने तुम्हें पूरा टैक्स दिया है।"

लोकपति, जिसने किसी के चेहरे पर कुछ ख़त लगा दिये थे, उसे छोड़ देता है और कहता है, "आप ज़रा ठहरिए, श्रीमान।"

"नहीं, यह कैसे हो सकता है," वह आदमी विरोध करता है, "मुझे दुकान पर जाना है।"

"सभों को जाना है, भैया," लोकपति कहता है, "सभों को जाना है।... कल इनकी हजामत बीच ही में रह गयी।"

"यह जायँ भाड़ में और तुम जाओ जहन्नुम में," वह आदमी मुँह पर कफ़ लाते हुए कहता है, "इनकी तो कल की हजामत रह गयी, मैं पिछले इतवार का अनमुँडा बैठा हूँ।"

मालूम होता है उस आदमी की बर्दाश्त आख़िरी हद तक पहुँच गयी है और वह लोकपति को मारेगा। लेकिन लोकपति की एक ही कड़ी नज़र और हाथ में उस्तरा देखकर वह कहता है, "अच्छा...मत भूलियो, इनके बाद मेरी

बारी है।"

और मैं इतमीनान से लोकपति के हाथ में अपना गला दे देता हूँ और सोचता हूँ—कुछ भी हो, लोकपति आदमी बुरा नहीं। मामले का बहुत खरा है...।

थोड़ी ही देर में चेहरे का वह हिस्सा साफ़ हो जाता है जो कल अनकटा रह गया था। मैं उस पर हाथ फेरता हूँ। क्या जरनैली सड़क, बल्कि आटोबाह्न की तरह से साफ़ है, जिस पर कोई सौ मील की रफ्तार से गाड़ी चला सकता है। तभी लोकपति मुझसे कहता है, "अब आप उठ जाइए।"

"क्या मतलब?" मैं आख़िरी बार हैरान हो कर पूछता हूँ।

"जो अनकटा रह गया था, वह मैंने काट दिया।"

"मगर," मैं चेहरे के दूसरे हिस्से पर हाथ फेरते हुए कहता हूँ, "रात में इधर भी तो बाल उग आये हैं—!—!"

"कट जायँगे, बबुआ!!...वे भी कट जायँगे," लोकपति सिल्ली पर उस्तरा तेज़ करते हुए कहता है, "बारी से सब ठीक हो जायगा।"

और मैं डाइक पर खड़ा अपनी बारी का इन्तज़ार करने लगता हूँ जो आयगी, पर नहीं आयगी। कौशिक ऊँची आवाज़ से अपनी कामयाबी पर हँस रहा है। चन्द्रभान न मालूम किसको देखकर ऐक्ट्रेस जमुना का वह शे'र पढ़ने लगता है, जो उसने फिल्म 'देवदास' में बोला था :

कोई मेरे दिल से पूछे, तेरे तीरे-नीमकश को,
यह खलिश कहाँ से होती जो जिगर के पार होता।

सामने नदी में औरतें नहा रही हैं। एक नौजवान लड़की ने हर क़िस्म की लाज और शर्म को भूल कर सब कपड़े उतार दिये और ज़ोर से उन्हें दूर किनारों की तरफ़ फेंक दिया और पूरे पर तौल कर पानी में कूद गयी। जितने ज़ोर से उसने छलांग लगायी, उतने ही ज़ोर से पानी उससे लिपटने को आया। इस ख़ूबसूरत डाइविंग के बाद अभी वह पानी के ऊपर नहीं आयी

है। मालूम होता है नीचे सरस्वती की थाह लगाने की कोशिश कर रही है।...

यात्री लोग न जाने क्यों एकाएक चौकस हो गये और अब पण्डों के फूल नहीं बिकते। वे टोकरियाँ हाथ में लिये सबकी तरफ़ बिटर-बिटर देख रहे हैं।

क़िला, जिसे शहंशाह अकबर ने बनवाया था, एक मिनिएचर हो गया, जो वक्त के अजायबघर में पड़ा है। मन्दिर ज़मीन में धँस चुके हैं और बन्दर शायद ऊपर चाँद, शुक्र और मंगल पर कूद गये, जो अब हमारी धरती के सूबे हो चुके हैं।...एक फ़क़ीर, जो शक्ल से हकीमे-वक़्त मालूम होता है, बद्दुआ देता है जो मुझे दुआ मालूम होती है :

"जा बच्चा ! सेफ़्टी के सिवाय तेरा कोई इलाज नहीं।"

और मैं ख़ुशी-ख़ुशी घर लौट जाता हूँ, जिसका रास्ता बाज़ार में से होकर जाता है।
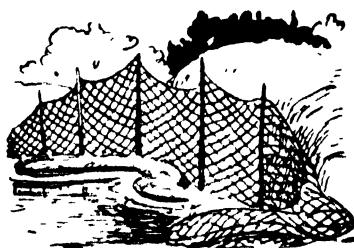
इस्मत चग़ताई

●●●

तो मर जाओ !

"मैं उसके बिना ज़िन्दा नहीं रह सकती !" उन्हों ने फ़ैसला किया ।

"तो मर जाओ !" जी चाहा कह दूँ । पर नहीं कह सकती । बहुत से रिश्ते हैं, जिनका लिहाज़ करना ही पड़ता है । एक तो दुर्भाग्य से हम दोनों औरत ज़ात हैं । न जाने क्यों लोगों ने मुझे नारी जाति की समर्थक और सहायक समझ लिया है । शायद इसलिए कि मैं अपने भतीजों को भतीजियों से ज़्यादा ठोका करती हूँ ।

ख़ुदा क़सम, मैं किसी विशेष जाति की तरफ़दार नहीं । मेरी भतीजियाँ अपेक्षाकृत सीधी और भतीजे बड़े ही बदमाश हैं । ऐसी हालत में हर समझदार उन्हें सुधारने के लिए डाँटते-फटकारते रहना इन्सानी फ़र्ज़ समझता है ।

पर उन्हें यह कैसे समझाऊँ । वे मुझे अपनी शुभचिन्तक मान चुकी हैं । और वह लड़की, जो किसी के बिना ज़िन्दा न रह सकने की स्थिति को पहुँच चुकी हो, कुछ हठीली होती है, इसलिए मैं कुछ भी करूँ, उसके प्रति अपनी

सहानुभूति से इनकार नहीं कर सकती। अनचाहे या अनमने रूप से सही, मुझे उनके हितैषियों और शुभचिन्तकों की पंक्ति में खड़ा होना पड़ता है।

दुर्भाग्य से मेरा स्वास्थ्य हमेशा ही अच्छा रहा और बीमार होकर मुर्ग़ी के शोरबे और अंगूर खाने के मौक़े बहुत ही कम मिल पाये। यही कारण था कि शायद कभी प्राण-घातक क़िस्म का इश्क़ न हो सका। हमारे अब्बा ज़रूरत से ज़्यादा सावधानी बरतने वालों में से थे। हर बीमारी को समय से पहले ही रोक-थाम कर दिया करते थे। बरसात आयी और पानी उबाल कर मिलने लगा। आस-पास के सारे कुओं में दवाइयाँ पड़ गयीं। ख़ोंचे वालों के चालान करवाने शुरू कर दिये। हर चीज़ ढकी रहे। बेचारी मक्खियाँ ग़ुस्से से भनभनाया करतीं, क्या मजाल जो एक ज़र्रा मिल जाय। मलेरिया फैलने से पहले कुनेन हलक़ से उतार दी जाती और फोड़े-फुंसियों से बचने के लिए चिरायता पिलाया जाता।

इश्क़-मुहब्बत की रोक-थाम के लिए न जाने उन्होंने कौन से ज़ोशांदे पिला रखे थे कि किसी भी बहन भाई को घातक क़िस्म का इश्क़ न हो पाया। यों ही कभी ज़ुकाम, खाँसी, मामूली बदहज़्मी की तरह किसी को इश्क़ हो गया तो बुज़ुर्गों ने हँस कर टाल दिया। न एक दम सम्बन्ध विच्छेद करने की धमकियाँ मिलीं, न ज़हर खाने की नौबत आयी। लोग कहते हैं, जब किसी को इश्क़ का रोग लग जाता है तो खाना-पीना और सोना हराम हो जाता है। पर हमारा ख़ानदान अजीब था कि उसमें जब कोई ज़रूरत से ज़्यादा हँसता खेलता और मोटा होता पकड़ा जाता तो आम तौर पर वह इश्क़ का रोगी निकलता—इसलिए जैसा वे कहती हैं, मुझे उनके दर्द का अन्दाज़ा नहीं। उन्हें निहायत घातक क़िस्म का इश्क़ है और मैं हँस रही हूँ।

मुझे याद है कि हम लोग एक बार पुरानी फ़िल्म 'हीर राँझा' देखने गये थे। जब राँझा साहब की मरम्मत हुई तो हम लोग बेतहाशा हँसने लगे। हमारे गिर्द बैठी भीगी आँखों वाली पब्लिक ने हमारी कुरुचि पर घृणा प्रकट की।

लेकिन मेरी दोस्त, मेरी सहेली अपने प्रेमी के बिना ज़िन्दा नहीं रह

सकतीं। वह उन्हें जलाता है, कलपाता है, अपमानित करता है। वे प्रेमी के द्वार पर सीस नवाने के लिए जाती हैं तो दरवाज़ा बन्द कर लेता है।

"मैं तुम्हारे बिना ज़िन्दा नहीं रह सकती।" वे हज़ार बार उससे कहती हैं।

"मैं तुम्हारे साथ ज़िन्दा नहीं रह सकता।" वह हज़ार बार जवाब देता है। तब वे रोती हैं, जान देने की धमकियाँ देती हैं पर वह कानों में तेल डाल लेता है। वह उसके सारे दोस्तों और जान-पहचान के लोगों से प्रार्थना कर चुकी हैं। एक इन्सान की हैसियत से उन्हें ज़िन्दा रहने का अधिकार है। ये प्रगतिशील लोग एक भावुक लड़की की तमन्नाओं का ख़ून होते कैसे देख सकते हैं। जी हाँ, दुर्भाग्य से मैं भी प्रगतिशील लोगों में गिन ली गई हूँ। और मुझ पर भी यह इलज़ाम है कि मैं हरगिज़ प्रगतिशील नहीं हूँ, क्योंकि मैं अपनी ही जैसी एक औरत का दिल टूटते देखती हूँ और मेरे कान पर जूँ तक नहीं रेंगती।

साहब, मैं अपने कान पर जूँ छोड़ हाथी रेंगाने को तैयार हूँ, मगर ख़ुदा के लिए कोई बताये, मैं उनके आशिक़ बल्कि माशूक़ को किस तरह उनके लिए फाँस सकती हूँ। काश, वह एक मर्तबान होता या मिट्टी का प्याला, तब या तो मैं अपनी प्यारी दोस्त के लिए उसे ख़रीद लाती, अजायब घर में होता तो चुरा लाने की कोशिश करती। मगर वह तो निहायत ढिठाई से मोटर में दनदनाता फिरता है। हवा को कौन मुट्ठी में बाँध सकता है। धूप को क़ैद करने का यंत्र अभी तक भारत में तो ईजाद नहीं हुआ और न इम्पोर्ट हुआ है। इस छलावा क़िस्म के आशिक़ को कौन घेर कर उनके दरबे में हाँक सकता है?

क़सूर उस छलावे का भी है। दिल-फेंक क़िस्म का आदमी है। एक बार उसने इनकी तरफ़ भी छक्का मार दिया था। मीठी-मीठी बातें उनके कानों में उँडेल दी थीं। उन्हें लिये-लिये भी घूमता था। उन्हें सर्दी लग रही थी तो स्वेटर ख़रीद कर पहना दिया। पेड़े खिलाये और शायद चूमा-चाटा भी होगा। ये सब तो वह ज़िन्दगी का फ़र्ज़ समझ कर हर महीने एक-न-एक नयी लड़की के साथ किया करता है। अगर वह उन सब लड़कियों से किये गये वायदे

पूरे करता तो अब तक पूरी हरम भर जाती। इतना तो एक मोटर और अच्छी आमदनी का मालिक राह चलते करता ही रहता है। अब हर राह-चलता अगर उसके पीछे क़ाज़ी और सेहरा लेकर दौड़ता फिरे तो बेचारा दम न तोड़ दे।

वह सेहरा और क़ाज़ी काफ़ी न समझ कर मुझे भी समधिन बनने पर मजबूर करना चाहती हैं। मुझे समधिन बनने मे चिढ़ है। दूल्हा और दुल्हन तो एक दूसरे को मिल जाते हैं, समधिनों को सिर्फ़ गालियाँ मिलती हैं या फिर फूलों की छड़ियाँ, जिनमें फूल कम और छड़ियाँ ज़्यादा होती हैं।

मेरी एक और सहेली को भी इश्क़ के रोग ने आ घेरा था। उनके आशिक़ ने आदत के मुताबिक़ उन्हें सब्ज़ बाग़ दिखाये मगर शादी नहीं की। कुछ गड़बड़ हो जाती तो अस्पताल ले जा कर इलाज करवा देता। वे इस इलाज से ही संतुष्ट थीं। इलाज के दौरान वह अपने आशिक़ की बीवी कहलाती थीं। वैसे वह उनके बड़े लाड करता था। सारी तन्ख़ाह हाथ में थमा देता था। सियाह-सफ़ेद की वे मालिक थीं। मगर पक्का काग़ज़ करने से दम चुराता था। मेरी बदक़िस्मती कहिए या शामत, जब चौथी बार गड़बड़ हुई और अस्पताल जाने की नौबत आयी तो वे आदत के मुताबिक़ रोती-पीटती मरहम-पट्टी के लिए मेरे पास आयीं।

"मत जाओ अस्पताल।" मैंने योंही बे-सोचे-समझे राय दी।

"ऐं!" वह चौंकीं, "मगर बच्चे कौन पालेगा!"

"उसका बाप पालेगा।"

"मगर बदनामी जो होगी।"

ओफ्फ़ोह! मेरा जी जल गया। "यानी आप अब बड़ी नेक-नाम हैं। आये-दिन जूते मार-मार कर सड़क पर ढकेल कर कुंडी लगा लेता है। दूसरी लड़कियों की ख़ातिरें करता है। आप सड़क पर मँडराया करती हैं। सामने होटल में बैठी इन्तज़ार करती हैं कि कब नयी लड़कियाँ पिट कर बाहर निकलें और वह हँस पड़े तो क़तई बदनामी नहीं होती।

"तुम उससे मुहब्बत करती हो ?" मैंने पूछा।

"यह भी कोई पूछने की बात है।"

सचमुच पूछने की बात नहीं थी। वह उस मरखने बैल के लिए अपनी बच्ची और पति तक को छोड़ आयी थी। जिसने हिल कर पानी नहीं पिया था, वह उस ज़ालिम के लिए चूल्हा झोंकती थी। उसके बिसाँदे कपड़े धोती थी। शराब पी कर इतना मारता कि उत्तू बना देता। यह सूजा हुआ मुँह लिये उसकी सेवा में लगी रहती, इसलिए कि अस्पताल में भरती कराते वक़्त वह उन्हें अपनी 'मिसेज़' बताता था।

"तो फिर उसका बच्चा नहीं पाल सकोगी ?"

वे सोच में पड़ गयीं और थोड़े दिनों बाद एक दम उनकी शादी हो गयी। हम दौड़े-दौड़े गये बधाई देने। मियाँ बीवी दोनों ने बड़ी ही उपेक्षा से हमारी तरफ़ देखा और फ्लैट में ताला डाल कर सिनेमा चले गये और हम भौंचक्के रह गये कि हमने तो तरकीब बतायी और हम ही दूध की मक्खी बने। मालूम हुआ, दूल्हा इस लिए ख़फ़ा था कि हमने लड़की को बहका कर उसे फँसा दिया। दुल्हन इसलिए नाराज़ कि हमने उसकी बड़ी-बड़ी दुर्गति देखी थी और अब वह निहायत ऊँची सोसाइटी में उठना-बैठना पसन्द करती थी और हम उसके भयानक अतीत की यादगार थे।

दूल्हा कुछ दिन बाद फिर मरखना बैल बन गया। उन्हें मारता है। नयी लड़कियों से दोस्ती करता है। पहले शायद उसकी आत्मा धिक्कारती थी कि एक मजबूर औरत को रखेल की ज़िल्लत दे रखी है। अब उसका दिल साफ़ है और शरीफ़ आदमियों की तरह उसे ठोकता है और रुपया ऐश में उड़ाता है।

हालाँकि यह नुस्ख़ा एक बार उल्टा पड़ चुका था। पर अपना पीछा छुड़ाने के लिए मैंने फिर अपने आशिक़ के बिना ज़िन्दा न रह सकने वाली अपनी दोस्त को थमा दिया।

वह बहुत ग़ुस्सा हुई, "क्या समझती हो उन्हें ?"

मैंने देखा यह नुस्ख़ा इस्तेमाल नहीं करेंगी। बस वहीं जमा दिये पैर ताकि ख़ुद ज़िम्मेदारी से अलग हो जायें। लोग कहेंगे, मैं मासूम लड़कियों को कितनी ग़लत सलाह देती हूँ। मैं सचमुच बहुत लज्जित हूँ। दरअसल मैं इश्क़ के मामले में निहायत थर्ड क्लास सलाहकार हूँ। मैंने इश्क़ को हमेशा दिल और दिमाग़ को तरावट देने वाली चीज़ समझा है। मैं प्लेग और हैज़े की तेज़ी रखने वाले इश्क़ के सिलसिले में ज़हर-क़ातिल हूँ।

"मेरी मुहब्बत पाक और रूहानी है।" उन्होंने अभिमान से गर्दन अकड़ा ली।

"मुहब्बत हमेशा ही पाक होती है।"

"एक वेश्या की मुहब्बत भी?" वे जल गयीं।

"वह सब से ज़्यादा पाक और पवित्र होती है।"

"जिस्म बेचने को पाक-पवित्र मानती हैं?"

"व्यापार का नहीं, मुहब्बत का ज़िक्र था। रहा रूहानी इश्क़ तो उससे क्या मतलब है—पूजा?"

"हाँ।" वे जोश से झूम उठीं।

"तो कौन मना करता है। पूजा करो...डट कर करो। इसमें उस नकचढ़े से इजाज़त लेने की क्या ज़रूरत है? वह कर भी क्या सकता है। और रूहानी मुहब्बत में निकाह की क्या ज़रूरत है? क्या ख़याल भी हरामी हलाली हुआ करता है। तुम शौक़ से उसे अपना रूहानी शौहर बना लो। वह तुम्हारे चंगुल से नहीं बच सकेगा।"

"आप नहीं समझतीं।"

"मैं ख़ूब समझती हूँ। मुझे ख़ुद सहगल से इश्क़ था। उसकी आवाज़ सुन कर कलेजा निकल पड़ता था। मोतीलाल से इश्क़ था, अशोक कुमार ने नींदें उचाट कर दी थीं। और तो और किसी ज़माने में गुरुदेव टैगोर से इश्क़ हो गया था। जी चाहता था, जोगिन बन कर शांति निकेतन में जान दे दूँ। शरत बाबू अगर मुझे हुक्म देते कि एक टाँग से खड़ी रहो तो मुझे एतराज़ न होता। किसी से कहना नहीं, मुझे पॉल राब्सन से तो ऐसा गहरा इश्क़

हुआ था कि ख़ुदा की पनाह। उसके रिकार्ड सुन कर घंटों सर धुना है। अब भी ख़ुदा की क़सम ऐसे-ऐसे लोगों से इश्क़ है कि सोच कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अगर किसी को मेरे आशिक़-मिज़ाज दिल की दीदा-दिलेरियों का पता चल जाये तो अंधेर हो जाय। लोग मेरे नाम से भागने लगें और लोगों को सबक़ देने के लिए मुझे बीच बाज़ार में दुर्रे लगाये जायें। मगर उनमें से किसी सूरमा से शादी का शौक़ नहीं। अगर उन लोगों की किसी भी हरकत से मुझे उनकी बदनीयती का शक हो जाय तो मैं इज़्ज़त का दावा कर दूँ। मेरी जान! शादी और इश्क़ को गडमड न करो। क्या तुम समझती हो, शादी के बाद इश्क़ नहीं हुआ करता। मेरा तो ख़याल है, इश्क़ सिर्फ़ मुर्दों को नहीं होता। मगर वह भी शायद मैं पूरे यक़ीन से नहीं कह सकती, क्योंकि मैं अभी मुर्दा नहीं हूँ।"

"आप मज़ाक़ कर रही हैं। रूहानी इश्क़ से मेरा यह मतलब नहीं है कि टैगोर से इश्क़ कर लिया जाय।...यह इश्क़ नहीं।"

"तो साफ़ कहो, इश्क़ से तुम्हारा मतलब शादी है, जिसमें महर और तलाक़ का हक़ भी रहे। तुम निरी बनिये की बेटी हो। सख़्त व्यापारी ज़ेहनियत है। लैला होती इस वक़्त तो इश्क़ की तौहीन करने के सिलसिले में तुम्हें अपने ऊँट के नीचे कुचल देती। मेरी सलाह मानो तो किसी भले-मानुस से शादी कर लो। बेटे का नाम अपने नामाक़ूल आशिक़ के नाम पर रखो और उसे वक़्त-बे-वक़्त पीट कर अपने दिल की भड़ास निकाल लिया करो। आशिक़ से शादी करना सख़्त बदमज़ाक़ी का सबूत है। बदमज़ाक़ लोग लेमन ड्राप को चबा कर निगल जाते हैं। लेमन ड्राप चूस कर खाने की चीज़ है। ख़ुदा के लिए आशिक़ को गृहस्थी के जुए में न जोतो। ज़रा सोचो, दिलीप कुमार, जो हज़ारों दिलों की धड़कन बना हुआ है, मुस्तक़िल तौर पर घर वाले के रूप में आ डटे तो फिर दिल किसके लिए धड़के? यक़ीन मानो, वह भी इन्सान है। खाता है, पीता है, सोता है, लड़ता है, कुंजियाँ खो देता है, काग़ज़ बिखेरता है, वादा खिलाफ़ियाँ करता है, सिनेमा के टिकट ख़रीद कर भूल

जाता है और यक़ीन मानो जैसे मधुबाला और वैजन्ती माला के लिए ख़ुदकुशी करता फिरता है, आहें भरता है, बीवी के लिए नहीं भरेगा। दिल टूट जायगा। क्या समझती हो तुम। कृष्ण चन्द्र से शादी कर लो! वह कभी तुम्हारी साड़ी महालक्ष्मी के पुल पर नहीं टाँगेगा, बल्कि निहायत भोंडेपन से अपनी क़मीज़ टाँगते वक़्त तुम्हारी साड़ी कीचड़ में गिरा देगा और उल्टा तुम्हें फूहड़ कहेगा। साहिर, हाथ आ जाये तो कभी तुम्हारे आँसू रेशमी आँचल से न पोंछेगा, न तुम्हारी मर्मरीं बाहों का सहारा लेगा। सरदार जाफ़री से तो भूल कर शादी न करना। तुम्हारे बालों तक में किताबें और काग़ज़ भर देगा और वक़्त-बे-वक़्त इक्के वालों की तरह लड़ेगा। ज़रा भी अक़्ल रखती हो तो ख़ुदा के लिए इन आर्टिस्टों से शादी न कर लेना, वरना सर पकड़ कर अपनी हिमाक़त पर रोओगी। ये सपने हैं, इन्हें सच बनाने की कोशिश न करना। पति एक निहायत ठोस सच्चाई होती है।"

वे मेरी अक़्लमन्दी की बातों से रोब में आ गयीं। ख़ुशी से मेरे हाथ पाँव फूल गये। कौन कहता है, मैं बेतुकी बातें करती हूँ। एक इश्क़ की मारी लड़की को सच्चे रास्ते पर लगा दिया। अब यह धूम-धाम से शादी करेगी; बच्चे जनेगी, दुनिया सजेगी। भई मुझे तो क़ौम की लीडरी करना चाहिए।

मगर मेरी लीडरी के सपने गद-गद करके नीचे आ पड़े, जब मैंने सुना कि उसी शाम उन्हों ने अपने बदज़ात आशिक़ के मोर्चे पर हमला बोल दिया। उसकी बीमार तिनका-सी अम्माँ को जू-जुत्सू के पहलवानी हाथ दिखाये। "यह मेरा घर है ... मैं यहाँ से कभी नहीं जाऊँगी।" उन्होंने पक्की गृहस्थिन की तरह एलान किया, "तुम उसकी माँ नहीं डायन हो ... उसकी कमाई पर नागिन बन कर बैठी हो।" हो सकने वाली बहू ने चीख़-चीख़ कर कहा और बड़ी मुश्किलों से धक्के देकर उन्हें घर से निकाला गया तब निकलीं।

अब मेरी कमबख़्ती देखिए! जैसे ये सारे धक्के मेरी ही पीठ में लगे। लोग बिलकुल ठीक कहते हैं, मैं निहायत अहमक़ हूँ।

"मैं उसके बिना ज़िन्दा नहीं रह सकती।" वे बड़े विश्वास से कहती हैं तो मुझे क्यों आपत्ति है? मैं उनसे कह क्यों नहीं देती—"तो मर जाओ!"

ख़ैर, आइन्दा कह दूँगी!

कन्हैया लाल कपूर

●●●

ट्युटर

अगर इस लेख का शीर्षक 'ट्युटर' की जगह 'मैं हूँ ख़ाना बदोश' या 'मैं हूँ अपनी शिकस्त की आवाज़' होता तो भी यह नितांत उचित और उपयुक्त समझा जाता। क्योंकि एक 'ट्युटर' और 'ख़ाना बदोश' में ज़्यादा अंतर नहीं होता। दूसरे यह मुमकिन नहीं कि नाकाम आशिक़ और फटे हाल शायर के बाद ट्युटर से बढ़ कर कोई दूसरा व्यक्ति अपनी शिकस्त की आवाज़ आप हो। 'ट्युटर' शब्द थोड़ी सी व्याख्या चाहता है। अंग्रेज़ी जानने वाले सज्जन तो ट्युटर के व्यक्तित्व से भली-भाँति परिचित हैं, पर उर्दू-हिन्दी जानने वाले सज्जन शायद इस शामत के मारे इन्सान से अनभिज्ञ हैं। ट्युटर उर्दू में मुअल्लिम और हिन्दी में शिक्षक कहलाता है। पर एक मुअल्लिम या शिक्षक और ट्युटर में उतना ही अंतर है, जितना कि एक ढीली-ढाली शलवार और एक चुस्त और कसी हुई पतलून में। बेचारा मुअल्लिम अरबी और फ़ारसी का आलिम, बूढ़ा और भोला इन्सान है, जिसका अजीब-ग़रीब हुलिया हर राह चलते को हँसने या कम-से-कम

मुस्कराने पर विवश कर देता है। इसके उलट ट्यूटर अत्यन्त मन्द गति से चलने वाला नौजवान है, जो आम आदमियों में इस तरह पहचाना जाता है कि वह एक टूटी-फूटी साइकिल पर सवार होता है। उसकी पतलून में एकाध पेवन्द लगा होता है और उसकी टाई शायर के उस शेर की याद दिलाती है, जिसमें कहा गया है :

"हैफ़ उस चार गिरह कपड़े की क़िस्मत 'ग़ालिब'
जिसकी क़िस्मत में हो आशिक़ का गिरेबाँ होना"

चन्द साल पहले की बात है। मैंने भी बेकारी से तंग आकर ट्यूटर का पेशा अपना लिया। यह वो समय था जब कि मेरे पाँव में चक्कर था और जब मेरा प्यारा शग़ल लाहौर के कूचों और बाज़ारों में घूमना और यह सदा लगाना था :

"बेचते हैं इल्म, है कोई लेने वाला।"

मैं यह मानता हूँ कि शुरू में मुझे इस पेशे के बारे में चन्द बहुत रंगीन क़िस्म की ग़लतफ़हमियाँ थीं। जैसे यह कि मुझे रईसों और अमीरों की ख़ूबसूरत लड़कियों को पढ़ाना होगा, अच्छा वेतन मिलेगा, मेरे लिए रोज़ मोटर भेजी जायेगी। पर जल्द ही ये सारे मनोहर सपने पानी के बुलबुलों से भी गये-बीते साबित हुए।

मेरी पहली ट्युशन की दास्तान यों शुरू होती है। एक दिन मैंने किसी अंग्रेज़ी अख़बार में पढ़ा "राय बहादुर फ़क़ीर चन्द को अपनी लड़की के लिए एक ट्यूटर की ज़रूरत है।" लिखा था, "उम्मीदवार कोठी पर मुलाक़ात करें। पता—२१ गॉफ़ रोड।" चुनांचे मैं भी क़िस्मत आज़माने के लिए सुबह तड़के गॉफ़ रोड की तरफ़ चल पड़ा। जब अनेक बाज़ार, सड़कें, बाग़ पार करने के बाद गॉफ़ रोड नज़र न आयी तो मैंने बड़ी घबराहट की हालत में हर आने-जाने वाले से पूछना शुरू किया, "क्यों साहब, आप मुझे २१, गॉफ़ रोड का पता बता सकते हैं?" लेकिन किसी भले आदमी को २१, गॉफ़ रोड का पता मालूम न था। सोचा, रास्ते से भटक गया हूँ और लौट चलूँ कि इतने में एक मोड़ के पास एक कमज़ोर-से आदमी ने साइकिल

से उतर कर बड़े मरे हुए स्वर में मुझसे पूछा, "क्यों साहब, आप मुझे इक्कीस गॉफ़ रोड का पता बता सकते हैं?"

मैंने भेद भरे स्वर में कहा, "आप को राय बहादुर फ़क़ीर चन्द के यहाँ जाना है?"

अजनबी एक सूखी हँसी हँसा। "आपको कैसे मालूम हुआ?"

मैंने कहा, "क्योंकि मुझे भी वहीं जाना है।"

"अख़्ख़ाह!" उसने कहा, "तो आप ट्युटर हैं?"

हम दोनों ने हाथ मिलाया और ठहाका मार कर हँसे।

अब हम दोनों इस बात पर बहस कर रहे थे कि क्या राय बहादुर फ़क़ीर चन्द को सिवाय २१ नम्बर गॉफ़ रोड के और कहीं जगह न मिली कि वा कोठी बना सकते कि तभी एक तीसरा नौजवान हमारी तरफ़ आता हुआ दिखाई दिया। छूटते ही उसने पूछा, "क्यों साहब, इक्कीस गॉफ़ रोड किधर है?"

हम दोनों ने अनायास कहा, "आप को राय बहादुर फ़क़ीरचन्द के यहाँ जाना है?"

वह कुछ घबराया। पर जब हम हँसने लगे तो वह हमारी बात समझ गया और अब मोड़ पर हम तीन ट्युटर खड़े थे। हमने प्रस्ताव रखा कि हम इस मोड़ पर चन्द मिनट और ठहरें ताकि अपनी बिरादरी के कुछ और लोगों को अपने साथ लेकर एक जुलूस के रूप में राय बहादुर के घर पर चलें। कुछ ही देर में उस मोड़ पर ट्युटरों की एक भीड़ इकट्ठी हो गयी। ऐसा लगता था कि लाहौर के हर पढ़े-लिखे आदमी ने ट्युटर का पेशा अपना रखा है। उस भीड़ में हर तरह के लोग शामिल थे। प्रोफ़ेसर, वकील, क्लर्क, बेकार। चुनांचे अब हम जिस साइकिल सवार को अपनी तरफ़ आता देखते, उससे पूछते—"क्या आपको २१, गॉफ़ रोड जाना है?" और उसे अपने जुलूस में शामिल कर लेते। दस-पन्द्रह मिनट के बाद हम ट्युटरों की एक अच्छी-ख़ासी भीड़ राय बहादुर की कोठी में दाख़िल हुई। देखने में यद्यपि हम सब अलग थे, पर बहुत-सी बातों में एक दूसरे से

बिलकुल मिलते-जुलते थे। जैसे घबराहट, परेशानी और बदहाली सब के चेहरों से टपकती थी। जेबें सब की ख़ाली, साइकिलें सब की पुरानी, निगाहें सब की भूखी और उदास।

राय बहादुर ने ट्युटरों के स्वागत के लिए एक ख़ास कमरे में इन्तज़ाम कर रखा था, जिसमें दो क्लर्क सिर्फ़ इस काम के लिए बैठाये गये थे कि हरेक ट्युटर का नाम, शिक्षा, अनुभव और सर्टीफ़िकटों की तादाद वग़ैरह नोट करें। इसके बाद एक-एक करके हर ट्युटर को, राय बहादुर के पास मुलाक़ात के लिए भेजें। लगभग तीन घंटे के बाद मेरी बारी आयी। राय बहादुर फ़क़ीर चन्द ने एक छिछलती निगाह से मेरा निरीक्षण किया और कुर्सी पर बैठने का इशारा किया। इसके बाद उन्होंने मुझ से तीन बातें पूछीं :

"आप की शादी हो चुकी है?"

"जी नहीं!"

"आप ने पहले भी किसी लड़की को पढ़ाया है?"

"जी नहीं!"

"आप मेरी लड़की को बी० ए० पास कराने की गारंटी दे सकते हैं?"

"जी नहीं!"

"आप बाहर जायें! मेरे पास ऐसे ट्युटरों के लिए कोई जगह नहीं।"

मैं माथे से पसीना पोंछता हुआ बाहर आया और बिना किसी से बात किये साइकिल पर सवार हो कर हवा हो गया...

चन्द दिन की दौड़-धूप के बाद मुझे ख़बर मिली कि चौधरी वहाबदीन के यहाँ ट्युटर की जगह ख़ाली है। चौधरी साहब को ऐसे ट्युटर की ज़रूरत थी, जो उनकी तीन-चार लड़कियों को तीन-चार घंटे रोज़ पढ़ा सके। एक दोस्त के ज़रिये मैंने चौधरी साहब से मुलाक़ात का इन्तज़ाम किया। जब उनकी कोठी पर पहुँचा तो देखा कि चौधरी साहब पलँग पर लेटे हैं। इर्द-गिर्द चापलूसों की भीड़ है। फ़र्श पर दस-बारह उर्दू की पत्र-पत्रिकाएँ बिखरी

पड़ी हैं और कोने में एक कुत्ता सिसक रहा है। चौधरी साहब की उम्र कोई पचास-साठ बरस की होगी। रंग काला भुजंग, चेहरे पर रोब, आवाज़ में कड़ापन और हाथों में कम्पन। मैंने सलाम किया और अपने दोस्त की सिफ़ारिशी चिट्ठी उनके सामने रख दी। चिट्ठी को पढ़ कर चौधरी साहब ने कहा—"देखो साहबज़ादे! मुझे तुम्हारी लियाक़त से ज्यादा तुम्हारी शराफ़त की ज़रूरत है। लड़कियों को पढ़ाना है, इसलिए बड़ी ही ज़िम्मेदारी का काम है।"

"जी हाँ," एक चापलूस ने कहा, "यह कोई लड़कों को थोड़े ही पढ़ाना है।"

मैंने जवाब में कहा, "जनाब, मैं आपको अपनी शराफ़त का किस तरह यक़ीन दिलाऊँ, सिवाय इसके कि सौ पीढ़ियों से शरीफ़ चला आता हूँ, और अगर इसके बावजूद कहीं कोई शरारत बाक़ी रह गयी थी तो उसे भूख और बेकारी ने जड़ से उखाड़ दिया है।"

चौधरी साहब ने दूसरी बात वेतन के बारे में पूछी। मैंने पचास रुपये माँगे। पचास रुपये का नाम सुनकर चौधरी साहब पलँग पर उठ कर बैठ गये। दो-तीन बार 'लाहौल' पढ़ा। इसके बाद बड़ी व्यंग्य-भरी मुद्रा में कहने लगे, "अरे इस छोकरे की तरफ़ तो देखो। सिर्फ़ चार घंटे पढ़ाना है और पचास रुपये माहवार माँगता है।"

एक चापलूस बोला, "बाबू साहब, क्या दिमाग़ चल गया?"

दूसरे ने कहा, "म्याँ होश की दवा लो। पचास रुपये में तो बड़े-से-बड़ा प्रोफ़ेसर मिल सकता है।"

तीसरे ने कहा, "अजी चौधरी साहब, याद है आपको वह छोकरा, जो पिछले साल आपके यहाँ पढ़ाने आता था। कितना शरीफ़ था बेचारा। पाँच घंटे पढ़ाता, इसके बाद आपके सारे ख़त टाइप करता; उसके बाद बच्चों को सैर कराने ले जाता, उसके बाद..."

चौधरी साहब ने सिर खुजाते हुए कहा, "हाँ, उसके बाद मुझे अख़बार पढ़ कर सुनाता, मेरे लिए अंग्रेज़ी में स्पीचें लिखता और कभी-कभी तो मेरी

गाड़ी तक हाँक देता था। और इन सब बातों के बावजूद," चौधरी साहब ने मेरी तरफ़ देखते हुए कहा, "तनख़ाह क्या लेता था? सिर्फ़ तीस रुपये।"

मैंने बड़ी गम्भीरता से कहा, "मैं उस नौजवान की हिम्मत की दाद देता हूँ। मगर तीस रुपये में मैं......"

"अच्छा, हम चालीस रुपये दे देंगे।" चौधरी साहब ने मेरी बात काट कर कहा, "ज़्यादा तकरार मत करो। कल से पढ़ाना शुरू कर दो।"

इस फ़ैसले के बाद चौधरी साहब ने एक नौकर को बुलाया और कहा कि वह मुझे ज़नानख़ाने में दाख़िल होने के तरीक़े समझा दे। उस नौकर से मालूम हुआ कि ज़नानख़ाने के बाहर एक छोटी-सी घंटी है, जिसको आ कर ट्यूटर बजाता है। इस घंटी की आवाज़ सुन कर एक नौकरानी बाहर आती है, जो ट्यूटर को अन्दर ले जाती है। पढ़ने के कमरे में एक घंटी रखी है, जिसको ट्यूटर बजाता है। इसका मतलब यह होता है कि पढ़ने वालियाँ पढ़ने के लिए तैयार हो जायें। फिर नौकरानी अन्दर जाकर लड़कियों को साथ लाती है और जब तक ट्यूटर पढ़ाता रहता है, वह नौकरानी ट्यूटर की गति-विधि का ध्यान रखती है। साथ ही पता चला कि चौधरी साहब ने हर विषय के लिए अलग-अलग ट्यूटर रख छोड़े हैं। यानी घर में अच्छा-ख़ासा स्कूल चलता है। लड़कियाँ बारी-बारी हर एक ट्यूटर से विभिन्न विषय पढ़ती हैं, सारे ट्यूटर एक समय पर आते और जाते हैं। मुझे बताया गया कि मैं कल दोपहर को एक बजे, जब दूसरे ट्यूटर आते हैं, पहुँच जाऊँ।

दूसरे दिन मैं ठीक समय पर पहुँच गया। दूसरे ट्यूटरों से मुलाक़ात की। उनमें से एक मौलवी साहब थे, जो फ़ारसी के ट्यूटर थे; एक पंडित जी हिसाब पढ़ाते थे; एक मास्टर जी इतिहास और भूगोल पढ़ाते थे। जैसे ही हम नौकरानी के साथ ज़नानख़ाने में दाख़िल हुए, दो-चार लौंडियों ने चिल्लाना शुरू किया, "बीबी पर्दा, मास्टर लोग आ गये। बीबी पर्दा! अज़मत बीबी पर्दा, रिफ़अत बीबी पर्दा, बड़ी बेगम पर्दा...मास्टर लोग आ गये।"

वो इस जोश से चिल्ला रही थी मानो मास्टर लोग उठाईगीरे या डाकू

हैं। पढ़ाने के कमरे में चार कोनों पर चार मेज़ें थीं, जिनके सामने दो-दो कुर्सियाँ रखी थीं। दीवारों पर अनेक नक़्शे लटके हुए थे और हरेक मेज़ पर अलग-अलग विषय की किताबें पड़ी थीं। पढ़ाने का पहला दिन मुझे अच्छी तरह याद है। हम सब ने अपनी-अपनी मेज़ पर रखी हुई घंटी को बजाया। नौकरानी अन्दर गयी और चिलमन के पीछे कुछ खुसर-फुसर शुरू हुई। कुछ इस क़िस्म की आवाज़ें सुनायी दीं—'तुम पहले चलो।...तुम चलो...चलो भी न।' इसके बाद एक लाइन में चार नौजवान लड़कियाँ कमरे में दाख़िल हुईं। उनमें से एक मेरी तरफ़ बढ़ी। उसकी अर्धनग्न वेश-भूषा, अधखुली आँखें, उसका सरका हुआ आँचल, जो कमर के निकट आ गया था, देखकर मुझे फुरहरी-सी आयी और इससे पहले कि मैं शायर की तरह पुकार उठूँ :

'साग़र को मेरे हाथ से लेना कि चला मैं'

कि एकदम मेरी नज़र नौकरानी पर पड़ी, जिसकी आँखें शोले बरसा रही थीं। मैं झट सम्हल गया। दूसरे ही क्षण वह ख़ूबसूरत लड़की मेरे सामने कुर्सी पर तन कर बैठी हुई थी और बड़ी उपेक्षा से मेरी तरफ़ देख रही थी। अगर मैं यह कहूँ कि उसे पहली नज़र में ही मुझसे नफ़रत हो गयी तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। दो ही मिनट पढ़ने के बाद वह मुँह फेर कर दरवाज़े की ओर ताकने लगी। मैंने कहा, "ज़रा ध्यान दीजिए। कहानी की भूमिका तो आपने सुन ली। अब व्याख्या सुनिए।" उसने उसी तरफ़ देखते हुए कहा, "मुझे आपके पढ़ाने का तरीक़ा पसन्द नहीं।" यह कह कर वह उठी और चिलमन के पीछे ग़ायब हो गयी।

कुछ देर के बाद दूसरी लड़की अंगरेज़ी पढ़ने आयी। पाँच मिनट पढ़ने के बाद उसने कहा कि कल उसने प्यानो पर एक नयी धुन सीखी है, जिसका अभ्यास वह अन्दर जा कर करना चाहती है। यह कह कर वह भी अन्दर चली गयी।

तीसरी लड़की ने पढ़ने से पहले मुझे बताया कि उसका पढ़ने को जी नहीं चाहता।

चौथी ने कहा कि उसके सिर में दर्द है।

अब हम पढ़ाने के कमरे में चार बेकार ट्युटर एक दूसरे का मुँह ताक रहे थे। चन्द मिनट बैठने के बाद हम चले आये। दूसरे दिन भी लगभग वही पहले दिन वाला मामला पेश आया। तीसरे दिन एक नयी मुसीबत हो गयी। चारों पढ़ने वालियाँ हमसे रूठ गयीं। अब हम एक-एक को मना रहे थे। मौलवी साहब कह रहे थे, "बीबी तनवीर! अब मेरा कहना मान लो और पढ़ो।" और बीबी तनवीर सिर हिला कर कह रही थीं, "उँह, मैं बिलकुल नहीं पढ़ूँगी।" पंडित जी कह रहे थे, "लो ज़ुबैदा, अब गुस्सा थूक दो।" मैं कह रहा था, "बीबी नरगिस, जाने भी दो। मान भी जाओ।" और मास्टर जी कह रहे थे, "अच्छा अनवर, छोड़ो भी अब पिछली बातें!" उस दिन मुझे मालूम हुआ कि कामयाब ट्युटर वह नहीं, जो सबसे अच्छा पढ़ा सके, बल्कि वह है, जो सबसे ज़्यादा नाज़ उठा सके। बड़ी मुश्किल से हमने तनवीर, नरगिस, ज़ुबैदा और अनवर को पढ़ने पर राज़ी किया। चन्द दिन आराम से गुज़रे। एक दिन मैंने नरगिस को इस बात पर डाँटा कि वह अंग्रेज़ी में निबन्ध क्यों लिख कर नहीं लायी। मेरा यह कहना था कि वह नाराज़ होकर अन्दर चली गयी। मैंने नौकरानी को बुलाने के लिए अन्दर भेजा। उसने कहला भेजा कि हम ऐसे ट्युटर से पढ़ने के लिए तैयार नहीं, जिसे बात करने की भी तमीज़ नहीं। उससे अगले दिन वह पढ़ने को न आयी। उसकी जगह चौधरी साहब आये और आते ही उन्होंने कहा कि मैं नौकरी से अलग कर दिया गया हूँ, क्योंकि नरगिस के ख़याल में मुझे पढ़ाना नहीं आता।

अब फिर मैं ट्युशन की तलाश में परेशान रहने लगा। सौभाग्य से एक हिन्दू ठेकेदार के यहाँ एक ट्युटर की ज़रूरत थी। उनकी लड़की को, जो एफ़० ए० में पढ़ती थी, अंग्रेज़ी और उर्दू पढ़ाना था। मुझे इस शर्त पर ट्युटर रखा गया कि मैं लड़की को उसकी माँ या पिता के सामने ही अंग्रेज़ी पढ़ाऊँ। पहले दिन जितनी देर मैं पढ़ाता रहा, लड़की की माँ पुलिस अफ़्सर की तरह लड़की की कड़ी निगरानी करती रही। हर दो मिनट के बाद वह

पुकार उठती, "शीला ! सिर पर कपड़ा लो।" "शीला हँसो नहीं।" "शीला आँखें नीची करो।" "शीला उनके मुँह की तरफ़ क्या देख रही हो ?" और बेचारी शीला का मुँह हर बार शर्म से लाल हो जाता। दूसरे दिन शीला के पिता पधारे। जिस समय मैं पढ़ा कर वापस जाने लगा, आप मेरे साथ हो लिये। रास्ते में कहने लगे, "आप नंगे सिर न आया करें। मेरा मतलब है कि आजकल सर्दी काफ़ी है और आपके बीमार होने का डर है।"

मैंने कहा, "बहुत अच्छा।"

"एक बात और," लाला जी ने कहा, "आप सिर में ख़ुशबूदार तेल न लगाया करें। मेरा मतलब है कि आप ग़रीब आदमी हैं और आपको इस क़िस्म की फ़ज़ूलख़र्ची से बचना चाहिए।...और अब सिर्फ़ एक बात और, वह यह कि आप पान मत खाया करें। मेरा मतलब है कि इससे दाँत ख़राब हो जाते हैं।"

मैंने मन में कहा कि आपका जो मतलब है, वह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। मगर ख़ैर।

सारांश यह कि इस तरह कोई दो हफ़्ते पढ़ाता रहा। अब गद्य की किताबें ख़त्म हो गयी थीं और मुझे अंग्रेज़ी कविता की किताब और उर्दू में ग़ालिब का दीवान पढ़ाना शुरू करना था। एक दिन लाला जी बैठे थे। मैं पढ़ा रहा था। मैंने अंग्रेज़ी कविता की व्याख्या शुरू की :

"शायर कहता है—औरतें हमेशा बेवफ़ा होती हैं।"

लाला जी कुर्सी से उछल पड़े। कहने लगे, "यह आप क्या पढ़ा रहे हैं और क्या कह रहे हैं।"

मैंने कहा, "जनाब, यह शायर कह रहा है। यह मेरी निजी राय नहीं है।"

लाला जी ने हुक्म दिया, "यह कविता मत पढ़ाइए। इससे अगली कविता पढ़ाइए।"

"बहुत अच्छा।" मैंने कहा और अगली कविता पढ़ाने लगा, "शायर कहता है—ख़ूबसूरत औरतो ! सर्द आहें मत भरो ! क्योंकि मर्द हमेशा

बेवफ़ा होता है।"

लाला जी ने चौंक कर कहा, "यह कविता भी मत पढ़ाइए। आगे चलिए।"

मैंने कहा, "शायर कहता है—हुस्न दो दिन की चीज़ है, इसलिए ऐ नौजवान लड़कियो! जितनी जल्दी हो सके, शादी कर लो!"

लाला जी गुस्से से लाल-पीले हो गये, "क्या इस किताब में ख़ुराफ़ात के सिवा और कुछ नहीं। आप यह किताब मत पढ़ाइए, उर्दू पढ़ाइए।"

मैंने ग़ालिब का दीवान पढ़ाना शुरू किया :

"सोहबत में ग़ैर की न पड़ी हो कहीं ये ख़ू
देने लगा है बोसा, बग़ैर इलतिजा किये।"

लाला जी ने चिल्ला कर कहा, "ऐसे शे'र मत पढ़ाइए!"

मैंने दूसरी ग़ज़ल निकाली।

"हमसे खुल जाओ ब-वक़्ते-मय-परस्ती एक दिन"

"यह ग़ज़ल भी मत पढ़ाइए।"

मैंने तीसरी ग़ज़ल का शे'र पढ़ा :

"दिखा के जुम्बिशे-लब ही तमाम कर मुझको
न दे जो बोसा तो मुंह से कहीं जवाब तो दे।"

लाला जी ने ग़ालिब का दीवान मेरे हाथ से छीन लिया और कहने लगे, "क्या अंग्रेज़ी और उर्दू शायरी में सिवाय इश्क़बाज़ी के और कुछ नहीं। मैं आज ही यूनिवर्सिटी को चिट्ठी लिखूंगा कि ये कैसी गन्दी कविताएँ कोर्स की किताब में शामिल कर रखी हैं। इसके बाद उन्होंने लड़की को अन्दर जाने को कहा और मुझसे कहने लगे, "यह ठीक नहीं मालूम होता कि आप इस तरह की कविताएं मेरी लड़की को पढ़ायें। ख़ास कर जबकि वह जवानी की मंज़िल में क़दम रख चुकी है। मैं किसी लेडी ट्युटर का इन्तज़ाम करूंगा। आपको बुरा तो मालूम होगा, मगर मै मजबूर हूँ।" इसी सिलसिले में उन्होंने मुझे कुछ क़िस्से ऐसे ट्युटरों के भी सुनाये, जो अपनी शिष्याओं को भगा ले गये और आज तक उनका पता नहीं चलता

और कहा, "यद्यपि आप इस क़िस्म के आदमी नहीं, लेकिन फिर भी सावधानी बरतना ज़रूरी है।" फिर मेरी फ़ीस का हिसाब चुकाया और मुझे विदा किया।

कुछ हफ़्ते बेकारी की ज़िन्दगी बिताने के बाद मुझे एक प्रतिष्ठित मुसलमान घराने में ट्युशन मिल गयी। यहाँ भी एक शर्त पर पढ़ाना था। वह यह कि लड़की पर्दे में पढ़ेगी। मेरा ख़याल था कि लड़की बुर्क़े में बैठ कर पढ़ेगी। मगर यह ख़याल ग़लत निकला। लड़की के बाप चूँकि पुराने ख़याल के आदमी थे, इसलिए वो बुर्क़े को ही काफ़ी नहीं समझते थे। उन्होंने एक क़नात लगा रखी थी, जिसके एक तरफ़ लड़की बुर्क़े में नौकरानी के साथ बैठती और दूसरी तरफ़ मैं बैठता। नियत समय पर मैं क़नात के सामने बैठ जाता और नौकरानी अन्दर से पुकारती, "मास्टर जी! आदाब अर्ज़। वो आ गयी हैं। आप पढ़ाना शुरू करें।" और मैं क़नात का सम्बोधित करके कहता, "सुनिए। कल मैंने आप को बताया था कि शैक्सपियर ने कुल सैंतीस ड्रामे लिखे।" इत्यादि-इत्यादि।

अन्दर से आवाज़ आती, "जी, हाँ जी।"

कभी-कभी ऐसा होता कि नौकरानी साथ न आती। उस हालत में मुझे यह पता लगाना मुश्किल होता कि क़नात की दूसरी तरफ़ वो आ गयी हैं या नहीं। मुसीबत यह थी कि वो कभी मुझे अपने आने की सूचना न देतीं और मुझे उनके आने का पता उनकी चूड़ियों की खनक या पाँव की चाप से मिलता। कभी-कभी पाँव की चाप बड़े भ्रम में डाल देती। यानी मैं कहता, "आप आ गयी हैं?" और अन्दर से आवाज़ आती, "नहीं जी, यह तो मैं हूँ करीम बख़्श। कुर्सी झाड़ रहा हूँ।"

यह पर्दा जहाँ मुसीबत था, वहाँ राहत भी। क्योंकि मुझे पढ़ाने में बहुत आसानी होती। मैं शब्द कोष, किताबों की कुञ्जियाँ इत्यादि अपने साथ ले जाता और उनमें से देख-देख कर पढ़ाये जाता। एक बात, जो मुझे परेशान करती, वह यह थी कि जिस दिन नौकरानी साथ न आती, वो

मुझसे अजीब-अजीब सवाल करतीं। एक दिन मैं जान कीट्स की कविता पढ़ा रहा था। उसमें एक जगह कहा गया था, "मैंने उसके चार चुम्बन लिये और फिर वह सो गयी।" एक दम उन्होंने क़नात की दूसरी तरफ़ से पूछा, "जी, ये चार प्यार क्यों लिये गये, पाँच क्यों नहीं?"

मैंने कहा, "चार चुम्बन काफ़ी हैं।"

उन्होंने पूछा, "और अगर पाँच होते?"

मैंने कहा, "तो फिर आप यह कहतीं कि छः क्यों नहीं?"

इस पर वो हँसने लगीं।

कभी-कभी वो सेक्स के विषय पर इस बेबाकी से बातें करतीं कि मुझे डर लगने लगता। जैसे यह कि सभी शायर आशिक मिज़ाज क्यों होते हैं? क्या सचमुच इंगलैंड की हर एक लड़की को लार्ड बायरन से मुहब्बत थी? मिल्टन इतना साधु और चरित्रवान था, फिर उसने तीन शादियाँ क्यों कीं?

उस लड़की को मैंने तीन माह पढ़ाया। मगर मुझे ऐसा लगता था कि मै तीन महीने एक क़नात को पढ़ाता रहा हूँ। आख़िर किसी तरह उस ट्यूशन से छुटकारा मिला।

इसके बाद मुझे एक हिन्दू राय साहब के इकलौते लड़के को पढ़ाना पड़ा। यह लड़का गवर्नमेंट कॉलेज में बी० ए० में पढ़ता था। राय साहब से मै उनकी कोठी पर मिला। आपने मुझे देखते ही पूछा, "आप बीमार हैं?"

मैंने कहा—"नहीं मैं बेकार हूँ।"

कहने लगे—"तो यह आपने अनाथों की-सी शक्ल क्यों बना रखी है, और क्या आपके पास इतने पैसे भी नहीं कि बाल बनवा सकते। और फिर इतनी लम्बी दाढ़ी रखने से क्या फ़ायदा है? इस ठाठ से आप रईसज़ादों को पढ़ायेंगे! ओफ़, क्या बे-रोब चेहरा है।"

मैंने अर्ज़ किया, "जनाब मेरी दाढ़ी या कपड़ों को तो पढ़ाना नहीं है, इसलिए उनकी फ़िक्र न करें। हाँ, अगर आपको मेरी योग्यता में कोई शक

हो तो उसे मैं दूर कर सकता हूँ।"

कहने लगे, "सिर्फ़ योग्यता और प्रतिभा किस काम की। मुझे तो ऐसा ट्युटर चाहिए, जो मेरे लड़के को आचार-व्यवहार सिखा सके। ज़िन्दगी की हर उलझन में उसको रास्ता दिखा सके।"

मैंने यह समझ कर कि मेरी दाल यहाँ न गलेगी, आख़िरी हरबा इस्तेमाल करने का फ़ैसला कर लिया। मैंने कहा, "मैं इससे पहले भी रईसज़ादों को पढ़ाता रहा हूँ। आप मेरे बारे में चौधरी वहाबदीन से पूछ सकते हैं।"

चौधरी वहाबदीन का नाम सुनकर वो पसीजे और कहने लगे, "अच्छा, कल से मदन को पढ़ाना शुरू कर दो।"

मिस्टर मदन, जिनका पूरा नाम मिस्टर मदन मोहन था, उन रईसज़ादों में से थे, जिन्हें पढ़ने-लिखने से नफ़रत और कुत्तों और लड़कियों से मुहब्बत होती है। वे बड़े सुन्दर, कोमल और खाने-पहनने के शौक़ीन विद्यार्थी थे और सच तो यह है कि विद्यार्थी काहे के, अच्छे-ख़ासे लार्ड बॉयरन थे। उनका प्रिय शौक़ हसीन लड़कियों को अपने जाल में फँसाना था। चुनांचे जितनी भी लड़कियाँ उनकी कोठी के आस-पास रहती थीं, उन सब पर आपका दाँत था। जिस वक़्त मैं पढ़ाना शुरू करता, वो अपने किसी ताज़ा रोमान का क़िस्सा छेड़ देते। कभी-कभी किताब मेरे हाथ से छीन कर ज़मीन पर पटक देते और कहते, "अजी मास्टर जी, छोड़िए इस बक-बक को। हर रोज़ वही बॉयरन, वही शेली। क्यों न हम और तुम ख़ुद बॉयरन और शेली बनें।" और फिर "मास्टर जी, सच बताइए। क्या आपने भी कभी मुहब्बत की है?" फिर ख़ुद ही कहते, "मगर आपसे मुहब्बत करेगा कौन? सूख कर तो आप काँटा हो रहे हैं—बिलकुल मजनूँ की तरह। मगर मजनूँ से तो लैला को मुहब्बत थी। मास्टर जी, आपसे किसी लैला को मुहब्बत है? अच्छा, भला कोई अच्छा-सा शे'र सुनाइए—निहायत ख़ूबसूरत शे'र।...क्या कहा? आपको कोई शे'र याद नहीं? कितने ख़ुश्क आदमी हैं आप।...सुनिए, मैं आपको शे'र सुनाता हूँ। 'दाग़' देहलवी का शे'र है।"...फिर एक बाज़ारी-सा शे'र सुनाकर पूछते हैं, "क्यों, पसन्द आया?...अच्छा, तो आज प्लाज़ा में कौन सी पिक्चर है?...

चलेंगे आप ! गाड़ी मँगवाऊँ ! मेरे इम्तहान की फ़िक्र न करें । सब परीक्षक जाने-पहचाने हैं । हर साल रिश्वत या असर से मैं पास हो ही जाता हूँ ।" और इसके पहले कि मैं कुछ कहता, वो घसीट कर मुझे प्लाज़ा ले जाते । लगभग सारा वक़्त इसी तरह की बातों में नष्ट हो जाता । पर क्योंकि मुझे उचित वेतन मिल रहा था । इसलिए मैं इनकी कोई चिन्ता न करता ।

मेरी सबसे आख़िरी ट्युशन एक ख़ासी मुसीबत साबित हुई । दुर्भाग्य से मुझे एक ऐस बनिये के लड़के को पढ़ाना पड़ा, जो स्वयं कंजूस और जिसका लड़का अत्यन्त मूढ़ था । लड़के की बुद्धि का यह हाल था कि यद्यपि वह एफ़० ए० में पढ़ता था, उसे यह पता न था कि ग्रीटा गार्बो मर्द है या औरत, और सान फ्रान्सिस्को किसी शहर का नाम है या किसी आदमी का । मैं उसे जो कुछ पढ़ाता, वह उसका बिलकुल उल्टा मतलब समझता । जैसे, मैं अगर कहता कि दुनिया में बहुत से भेड़िये इन्सानों के लिबास में फिरते दिखायी देते हैं, तो वह कहता, "आपका मतलब है कि दुनिया में हर आदमी भेड़िया है ।" अगर मैं उसे यह समझाने की कोशिश करता कि सूरज एक जगह रहता है और पृथ्वी घूमती है तो वह उसका यह मतलब निकालता कि पृथ्वी जड़ है और सूरज घूमता है । कभी-कभी तो मुझे ऐसा लगता कि किसी चीज़ को उसके दिमाग़ में धँसाने का सिर्फ़ यही तरीक़ा है कि वह चीज़ उसकी खोपड़ी पर रख दी जाय और उस पर हथौड़े से चोटें लगायी जायें ।

यह बनिया रुपये-पैसे के मामले में बहुत चालाक था । जब महीना ख़त्म होता तो हिसाब चुकाते समय वह कोई-न-कोई कारण दिखाकर लगभग एक हफ़्ते का वेतन ज़रूर काट लेता । कभी इसलिए कि मुझे दो-तीन दिन ज़ुकाम की शिकायत रही थी, जिसके कारण मैं उसके लड़के को अच्छी तरह पढ़ाता नहीं रहा । कभी इस लिए कि फ़रवरी के २८ दिन होते हैं । मैंने २८ दिन लड़के को पढ़ाया है, इसलिए ३० दिन के बदले २८ दिन की तन्ख़्वाह मिलेगी । कभी कहता कि दो दिन आपने एक घंटे की जगह पचपन मिनट

पढाया था, इसलिए आपके दस मिनट के पैसे मैंने काट लिये हैं।

दूसरी कोफ़्त उस बनिये के घर यह थी कि वह लगभग पौन दर्जन बच्चों का बाप था। जिस समय मैं उसके बड़े लड़के को पढ़ा चुकता, उन लड़कों की माँ अपने सभी छोटे-छोटे बच्चों को मेरे पास भेज देती कि चलते-चलते मैं उनको एकाध बात समझाता जाऊँ। चुनांचे वो तरह-तरह के फ़ुज़ूल सवालों से मेरा दिमाग़ चाटते रहते।

"मास्टर जी! नादिरशाह किसका बेटा था?"

"मास्टर जी! स्पेन की राजधानी का क्या नाम है?"

"मास्टर जी! अगर दो आने तीन पाई का एक ख़रगोश आये तो पन्द्रह आने नौ पाई के कै ख़रगोश आयेंगे?"

"मास्टर जी! 'इस्तक़लाल' और 'इस्तक़बाल' में क्या फ़र्क़ है?"

इस क़िस्म के सवाल सुनकर मैं कबाब हो जाता और मेरे जी में आता कि इनमें से एकाध का गला घोंट कर कहीं भाग जाऊँ। अजीब मुसीबत में जान थी कि एक दम नसीब ने पलटा खाया। मुझे स्थानीय कॉलेज में नौकरी मिल गयी और बनिये तथा ट्युशन से छुटकारा।

लेकिन यद्यपि अब मैं ट्युटर नहीं रहा फिर भी कभी-कभी सपने में अपने को छोटे-छोटे, काले-कलूटे बच्चों में घिरा हुआ पाता हूँ। इनमें से एक पूछता है, 'मास्टर जी! नादिरशाह किसका बेटा था?' दूसरा कहता है, 'अगर दो आने तीन पाई का एक ख़रगोश आये तो पन्द्रह आने नौ पाई के कै ख़रगोश आयेंगे...'

शफ़ीक़ुर्रहमान

***

रिव्यू

दरअसल इस लेख की शुरूआत ही ग़लत है। भला रिव्यू का क्या मतलब हुआ ? शीर्षक 'रिव्यू बाज़ी' या 'रिव्यू लेखन' होना चाहिए था।

फिर एक और ग़लती हम कर रहे हैं कि रिव्यूज़ पर रिव्यू कर रहे हैं।

हम यह बता देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि रिव्यू करने को तनक़ीद निगारी (समालोचना करना) भी कहा जाता है और हम इस लेख में सिर्फ़ उन समालोचनाओं का ज़िक्र करेंगे, जो साहित्य से सम्बन्ध रखती हैं।

रिव्यू लिखने के अनेकों लाभ हैं। पहला तो यह कि इससे हमारा साहित्य आगे बढ़ता है। अगर हम यह कह दें कि इसके बिना साहित्य में प्रगति सम्भव ही नहीं, तो ग़लत न होगा। भला जब तक लेखकों को बुरा-भला न कहा जाय, वो साहित्य की सेवा क्या ख़ाक करेंगे ?

दूसरा लाभ यह है कि इससे लेखक और पाठक दोनों को तरह-तरह के मौक़े मिलते हैं। मसलन लेखकों को यह सुनहरा मौक़ा मिलता है कि वो बेज़ार होकर लिखना ही छोड़ दें और अपना वक़्त किसी दूसरे अच्छे शौक़

को पूरा करने में लगायें और पाठक के लिए हँसने-हँसाने का सामान भी जुट जाता है—जब वो देखते हैं कि एक आदमी रिव्यू करके एक अच्छे-ख़ासे साहित्यिक पहलवान को मिनटों में चित गिरा देता है और फिर दूसरे की तरफ़ लपकता है तो उनकी खुशी-का ठिकाना नहीं रहता। हम भी ऐसे मौक़ों पर बहुत ख़ुश होते हैं और देर तक ख़ुश रहते हैं। इसके बाद उस लेखक की एक भी रचना नहीं पढ़ते।

तीसरा लाभ यह है कि वो नये शिकारी, जो लिखने के लिए बेचैन हैं, दूसरों पर रिव्यू पढ़ कर शिक्षा प्राप्त करते हैं और लेखक बनने से बाज़ रहते हैं। देखिए न, अगर ऐसा न हो तो अनगिनत लोग लेखक बन जायें और पाठक एक भी न रहे।

हमने पहले-पहल इस सिलसिले में ग़ौर नहीं किया था। लेकिन एक बार हमारे एक लेखक दोस्त के साथ एक अजीब घटना घटी, जिसने हमारी आँखें खोल दीं। तब हमने इस कला का बड़े ध्यान से अध्ययन किया।

हमारे दोस्त एक अर्से से मित्रों में लेखक कहाते थे। कहानियाँ लिखते थे और लिख कर फ़ाइलों में जमा किया करते थे। एक दिन उन्हें अचानक यह ख़याल आया कि अगर वो एक पुस्तक छपवा दें, तो दुनिया में इनक़लाब आ जाये और साहित्य के सबसे बड़े अभाव की पूर्ति हो जाये। उन्होंने हमसे सलाह ली। हमने कहा कि ज़रूर छपवाओ। चुनांचे काफ़ी मेहनत और मशक़्क़त के बाद पुस्तक छपी! हम उसे पढ़ कर बहुत ख़ुश हुए। पुस्तक अच्छी थी। हमारे दोस्त भी फूले न समाये।

चन्द महीने बाद एक पत्र में उस पर रिव्यू छपा। हमने पढ़ा। काफ़ी अर्से का ज़िक्र है, इसलिए हम भूल गये हैं, लेकिन कहीं-कहीं से याद है। कुछ इस तरह का था:

"एक नये लेखक की पहली कोशिश है, इसलिए हम उसे माफ़ करते हैं। हमें सारी पुस्तक में से एक कहानी भी पसन्द नहीं आयी। एक बार तो हम सचमुच सोचने लगे कि ये लेख कहानियाँ ही हैं क्या? लेकिन चूँकि यथार्थ बात कहने में लेखक का दिल टूट सकता है, इसलिए

इस बात को हम यहीं छोड़ते हैं।...कहानियों के प्लाट निहायत घिसे-पिटे हैं और सब-के-सब विदेशी साहित्य से चुराये हुए हैं। कहानियों के नाम बेतुके हैं। भाषा बिलकुल ग़लत है। उसमें प्रवाह नाम को भी नहीं है। किताब की भूमिका में अनगिनत ग़लतियाँ है। भूमिका का न सिर है न पैर। टाइप बहुत घिसे हुए हैं, काग़ज़ घटिया और छपाई निहायत ही रद्दी है। लेखक ने अपनी तस्वीर क्यों नहीं शामिल की? ख़ैर, हम उसे माफ़ करते हैं, चूँकि यह उसकी पहली कोशिश है, इसलिए हम उसका दिल नहीं तोड़ना चाहते। लेकिन यथार्थता यह है कि एक कहानी में भी जान नहीं।...समर्पण एकदम निरर्थक है। इससे अच्छा था कि न दिया होता। किताब की जिल्द भी अच्छी नहीं। टाइटिल तो इस क़दर वाहियात है कि देख कर क्रोध आता है, लेकिन फिर हम सोचते हैं कि पहली किताब है, इसलिए जाने दो। किताब की क़ीमत बहुत ज़्यादा है और ज़रूरत से ज्यादा संख्या में छाप ली गयी है। एक हज़ार तो दूर, अगर इस किताब की दस-पन्द्रह कापियाँ भी बिक जायें तो हम नाम बदलवा लें, लेकिन लेखक एक दम नया है और यह उसकी पहली कोशिश है, इसलिए हम उसका हौसला नहीं तोड़ना चाहते। हम उसे सलाह देंगे कि अच्छा हो यदि वह सब्र करे और आगे किसी और किताब को छपवाने की तकलीफ़ मोल न ले। लेकिन चूँकि यह लेखक की पहली कोशिश है इसलिए हम...”

यह रिव्यू पढ़ कर हमें बड़ा दुख हुआ। हमारे दोस्त ने समालोचक की नसीहत पर अमल करते हुए कहानियाँ लिखने से तौबा कर ली। आजकल वो पुलिस में अफ़सर है।

बात आयी-गयी हो गयी, लेकिन हमारे दिल पर समालोचकों का बेहद रोब बैठ गया और हमें दुनिया भर के लेखकों से न जाने क्यों हमदर्दी हो गयी।

एक दिन हमारा परिचय एक साहब से कराया गया और बताया गया कि ये बड़े तोप समालोचक हैं। वो समालोचक के नाते दूर-दूर तक मशहूर थे। पूछिए मत कि हमारा क्या हाल हुआ उस वक़्त। लेकिन हमारे ताज्जुब की कोई हद न रही, जब वो साहब हफ़्ते भर में हमारे दोस्त बन गये। वो

सचमुच एक मामूली इन्सान थे, पहले तो हम हिचकिचाते रहे, आख़िर एक दिन हमने डरते-डरते समालोचना की बात छेड़ दी। उनकी तारीफ़ भी की कि ऐसे अच्छे रिव्यू कर लेते हैं। अपनी कमज़ोरियाँ ज़ाहिर कीं कि जब कोई किताब पढ़ते हैं तो कॉमेडी पर हँसते-हँसते लोटन कबूतर बन जाते हैं। और ट्रेजिडी पर रोना शुरू कर देते हैं। और हमें हर किताब पसन्द आ जाती है। और हमारा दिल इतना कमज़ोर है कि हम किसी पुस्तक पर रिव्यू कर ही नहीं सकते। तब वो हज़रत बड़े ज़ोर से हँसे और बड़ी देर तक हँसते रहे। और जब हँस चुके तो एक दम रोने लगे। बिलकुल अलिफ़ लैला के उस शहज़ादे की तरह, जो परिस्तान में किसी परी को देख कर पहले हँसा था और फिर रो पड़ा था। हम ने कारण पूछा तो बोले, "आप की जिहालत पर हँसना आ रहा है और आप की नासमझी पर रो रहा हूँ।"

बड़ी देर तक हम बातें करते रहे। आख़िर उन्होंने एक सवाल पूछा, "क्या तुम भी पुस्तकों के रिव्यू करना चाहते हो?"

हमारा दिल धड़कने लगा। कहाँ समालोचना और कहाँ हम। हमने अपना सिर झुका लिया और शरमा कर रह गये। लेकिन उन्होंने कुछ ऐसी हौसला बढ़ाने वाली बातें कीं कि हमें विश्वास हो गया कि रिव्यू करना कुछ वैसा मुश्किल नहीं।

"लेकिन आपको पढ़ना बहुत पड़ता होगा।" हमने पूछा।

"पढ़ना?...कैसा पढ़ना?...क्यों पढ़ना?"

"आप पहले एक किताब को कई बार पढ़ते होंगे तब कहीं जाकर रिव्यू करते होंगे। बड़ा व्यापक अध्ययन होगा आपका!"

"लाहौल विला क़ूवत! अगर अध्ययन करके रिव्यू करने लगें तो हो चुके रिव्यू।...अध्ययन कौन मसख़रा करता है!"

"हायँ! तो क्या सचमुच...?"

"हाँ! सचमुच मैं किताबें नहीं पढ़ता। अगर ज़रा-सा अभ्यास हो जाय तो किताब को देख कर या सूँघ कर रिव्यू के पन्ने के पन्ने लिखे जा सकते हैं।"

और हम क़रीब-क़रीब ग़श खा गये।

इसके बाद वो हमारे गुरु बन गये और हम उनके चेले। उन्होंने हमें यह कला सिखानी शुरू की। महज़ चन्द हफ़्तों की शिक्षा के बाद हमने भी रिव्यू करने शुरू कर दिये। सबसे पहला रिव्यू हमने एक दीवान पर किया। (दीवान वो किताब होती है, जिसमें नज़्में ही नज़्में या शे'र ही शे'र होते हैं।) यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमने कभी एक शे'र भी नहीं कहा और न फ़िलहाल कोई नज़्म लिखने का इरादा है और न हमें इस जिन्स की परख है। फिर भी हमने रिव्यू कर दिया और वह रिव्यू इतना लोकप्रिय हुआ कि हम बयान नहीं कर सकते। हमारे पास रिव्यू के लिए धड़ाधड़ किताबें आनी शुरू हो गयीं। वह रिव्यू कुछ इस तरह था :

...पुरानी शायरी की तारीफ़ में आज भी कितने लोग हैं जो ज़मीन-आसमान के क़ुलाबे मिलाते रहते हैं। हमें तो कभी पुरानी शायरी पसन्द नहीं आयी। वही इश्क़-ो-मुहब्बत, फ़िराक़ और विसाल, साक़ी और शराब, गुल और बुलबुल की बातें! जो एक शायर कह गया, सब उलट-फेर कर वही बातें कहते जाते हैं। आशिक़ साहब माशूक़ की एक-एक अदा पर मरते हैं, क़ब्र में सो रहते हैं, मगर दूसरे ही शे'र में देखिए तो कफ़न फाड़ कर इश्क़ के अखाड़े में फिर आ मौजूद होते हैं। निगाह ऐसी कमज़ोर होती है कि माशूक़ की कमर नहीं देख सकते, पर उसके वियोग में आसमान का छोटे-से-छोटा तारा भी न सिर्फ़ देखते हैं, बल्कि सब को गिन भी डालते हैं। आह खींच कर दुनिया को जला डालते हैं और रोने पर आते हैं तो आँखों से नदी क्या, समुन्दर बहा देते हैं। उधर माशूक़ ऐसा ज़ालिम होता है कि पहले तो आँखों ही से क़त्ल कर डालता है, वरना तलवार निकाल सिर धड़ से अलग कर देता है। उसे आशिक़ को घायल करके तड़पाने में बड़ा लुत्फ़ आता है। हर माशूक़ के हज़ारों चाहने वाले होते हैं और हर आशिक़ को शिकायत रहती है कि वो उसके अलावा सब को चाहता है। होते होंगे कभी ऐसे आशिक़ माशूक़। मगर पुरानी शायरी के रसिया आज भी वही गीत गाये जा रहे हैं...

...लेकिन नये शायर को देख कर और नयी शायरी को पढ़ कर ही आप महसूस करने लगते हैं कि आपकी और शायर की दुनिया बिलकुल एक है। नया शायर किसान, मज़दूर, धोबी, भंगी यहाँ तक कि गधे और उल्लू का भी गहरी नज़र से निरीक्षण कर के उस पर बड़ी-से-बड़ी कविता लिख सकता है। अब मिसाल के तौर इसी दीवान के शायर को और उसकी शायरी को देखिए। यहाँ हम एक कविता दर्ज करते हैं। इसमें शायर ने एक निहायत ही कठिन विषय को कैसी ख़ूबी से निभाया है। पुरानी शायरी में इस ख़याल को हरगिज़ नहीं बयान किया जा सकता। लेकिन आज की शायरी ने नयी-नयी राहें खोल दी हैं। अब कविता देखिए :

लड़ रही हैं बिल्लियाँ !
उफ़ बिल्लियाँ
ओह बिल्लियाँ
बाग़ में इस वक़्त शायद लड़ रही हैं बिल्लियाँ
धुँधलका है शाम का
वक़्त है आराम का
काम का
इनआम
का
और लड़ रही हैं बिल्लियाँ !

होंगी शायद चार ये
या तीन हों
लेकिन ज़रा-सा यह शुबह
दिल में है मेरे बढ़ गया
कि बिल्लियाँ ये पाँच हैं
और छै तो हो सकती नहीं
और चाँदनी सी रात है

ग्रौर चाँद है निकला हुग्रा
ग्रौर चाँदनी है चार सू
ग्रौर चार दिन की चाँदनी
ग्रौर फिर ग्रँधेरी रात है

क्या कह रहा था मैं भला ?
ग्रोफ़्फ़ोह, ग्रभी तो याद था
इस याद को क्या हो गया
कमबख़्त से समझे ख़ुदा
हाँ मुझको याद ग्रा ही गया
कि लड़ रही हैं बिल्लियाँ !
बाग़ में इस वक़्त शायद लड़ रही हैं बिल्लियाँ !

क्या बात है ! वाह वाह ! क़लम तोड़ना इसे कहते हैं ! देखा ग्रापने ? ग्रगर नहीं देखा तो फिर देखिए। हास्य ग्रौर गाम्भीर्य का सामंजस्य, रोमान ग्रौर यथार्थ का ग्रजीब-ो-ग़रीब मेल। शायर ने क्या हल्की-फुल्की ग्रौर दुबली-पतली नज़्म कही है !

बिल्लियों पर ग्रापने ग्राज तक कोई नज़्म पढ़ी ? शायद नहीं। मालूम होता है कि शायर को बिल्लियों के प्रति ग्रसीम श्रद्धा है ग्रौर होनी भी चाहिए।

ज़रा दिमाग़ में तस्वीर बनाइए। चाँदनी रात, बाग़ का एक एकान्त कोना, शायर का बेचैन दिल ग्रौर कहीं दूर से बिल्लियों के लड़ने की ग्रावाज़ ! क्या कोई दूसरी चीज़ इससे ज़्यादा रोमैंटिक हो सकती है ? ग्रौर फिर शायर को यह भी विश्वास नहीं कि ये बिल्लियाँ ही हैं। उसने 'शायद' शब्द का प्रयोग करके कविता को कितनी बुलन्दी पर पहुँचा दिया है। हो सकता है कि उस वक़्त बाग़ में कुत्ते ही भूँक रहे हों। लेकिन शायर को बिल्लियाँ ही लगती हैं। ग्रौर फिर शायर यह भी नहीं जानता कि इन बिल्लियों की संख्या कितनी है। कितनी मज़ेदार बात है। लेकिन उसे यह यक़ीन ज़रूर है कि

छः से कम ही हैं। चाँदनी में शायर को अँधेरी रातें याद आती हैं, जब बाग़ में अँधेरा होगा और बिल्लियाँ भी नहीं लड़ेंगी। दुनिया की बेसबातों (नश्वरता) का नक़्शा उसकी आँखों के सामने आ जाता है। लेकिन शायर ने इन्तहाई कमाल वहाँ दिखाया है, जहाँ वह यह भूल जाता है कि वह क्या कह रहा था। वहाँ वह अपनी याददाश्त को कोसता है। देखा गया है कि अक्सर लोग ऐसे वक़्त अपनी यादाश्त को कोसते हैं। यहाँ हम उसकी यथार्थवादिता की तारीफ़ किये बिना नहीं रह सकते।

इसी सिलसिले में हम एक-दूसरे शायर की 'नयी' ग़ज़ल पेश करते हैं। (यह हम अपनी तरफ़ से कर रहे हैं) पुरानी शायरी में बन्दिशें बहुत थीं और हम भावनाओं को प्रकट करते समय घुट कर रह जाते थे। लेकिन आज की शायरी में बड़ा विस्तार है। मसलन 'अमाँ ठहरो भी सही' या 'अरे-अरे' और 'ऊँहूँ' को भी आज हम क़ाफ़िया (या रदीफ़) रख सकते हैं।

अब हम उर्दू ग़ज़ल में इन्क़लाब लाने वाले अपने मोहतरम दोस्त जनाब 'अज़हर' साहब की एक ग़ज़ल पेश करते हैं। हमने जहाँ 'चः चः' लिखा है, उसे आप 'चच चच' पढ़िए, बल्कि मुँह से वह स्वर निकालिए जो खेद प्रकट करते समय मुँह से निकलता है।

क़िस्सा-ए-क़ल्बे-नातवाँ[1] चः चः
दुख भरी है ये दास्ताँ चः चः
हर हसीं शक्ल पर ख़ुद आ जाना
ख़ुद हो फिर नाला-ओ-फ़ुगाँ[2] चः चः
तीर खाना हर इक की नज़रों के
और देना दुहाइयाँ चः चः
दरे-जानाँ पे ख़ुद ही जा जा के
खाना दरबाँ की गालियाँ चः चः
इक तो यह दिल की बेतुकी बातें
उस पे तख़ईले-शायराँ[3] चः चः

१. दुर्बल हृदय की कहानी; २. रोना-धोना; ३. कवि-कल्पना।

अलग़रज़ शैख़ जी बुहब्बत की
ऐसी ही कुछ है दास्ताँ च: च:

क्या कोई ऐसी ग़ज़ल आज से पचास साल पहले कह सकता था? हरगिज़ नहीं! यहाँ हमें दो शे'र और याद आ गये :

जिगर की चोट ऊपर से कहीं मालूम होती है

जिगर की चोट ऊपर से नहीं मालूम होती है

एक शब्द 'नहीं' ने शे'र को चार चाँद लगा दिये हैं। क्या सादगी पैदा हो गयी है। वाह वाह! दूसरा शे'र है :

कहीं करता है कोई यूँ जफ़ाएँ नाज़नीं हो कर
नहीं करता है कोई यूँ जफ़ाएँ नाज़नीं हो कर

यहाँ भी एक ही शब्द बदलने से कैसी बात पैदा हो गयी है।...

ग़रज़ कि इस क़िस्म का रिव्यू हमने किया था। रिव्यू कोई पचास पृष्ठ का था जब कि वह दीवान कुल चालीस पृष्ठ का था। रिव्यू इतना पसन्द किया गया, इतना लोक-प्रिय हुआ कि क्या अर्ज़ करें। उसे आधुनिक युग का सर्व श्रेष्ठ रिव्यू माना गया और हमारा नाम हर जगह मशहूर हो गया। इसके बाद हमने जो रिव्यू करने शुरू किये हैं तो बस एक-एक दिन में आठ-आठ किताबों पर रिव्यू कर दिये। किताब को दो-तीन मिनट पढ़ा और रिव्यू कर दिया। किताब को सूँघा और रिव्यू कर दिया। किताब को दूर से देखा और रिव्यू कर दिया। एक किताब पर तो हमने बिना उसे देखे ही रिव्यू कर दिया।

'फ़िक्र' तौंसवी

●●●

आह ! स्वर्गीय फ़िक्र तौंसवी

[अफ़सोस कि अपने ढंग की इस अजीब -ो- ग़रीब हस्ती से आप न मिल सके ! ख़ैर, अब इनकी दास्तान सुन कर ही सब्र कीजिए ।]

आख़िरकार भारत के प्रख्यात व्यंग्य लेखक श्री फ़िक्र तौंसवी भी इस संसार से कूच कर ही गये । इससे पहले उनके पिता भी स्वर्ग सिधार गये थे और उनके पितामह ने भी यही मार्ग अपनाया था ।

स्वर्गीय मौज़ा तौंसा (पंजाब) में पैदा हुए थे, मगर मरे दिल्ली में । उस वक़्त बरेली में होते तो बरेली में ही मरते । स्वर्गीय जवानी में नहीं मरे और यह संतोष की बात है कि वे अपनी उमर से कुछ ज़्यादा ही जी कर मरे ।

कई बरस पहले स्वर्गीय को एक 'पामिस्ट' ने बता दिया था कि मरने से पहले आपको अनमोल धन प्राप्त होगा । मगर अफ़सोस कि 'पामिस्ट' की सिर्फ़ एक बात ही ठीक निकली—यानी वे मर तो गये, मगर धन कुछ भी हाथ न लगा । उस 'पामिस्ट' के बारे में यह आम मशहूर था कि उसकी

वही बात ठीक निकलती है, जो सचमुच ठीक होती है।

स्वर्गीय की मौत कोई वैसी दुखद घटना नहीं थी। सिर्फ़ एक वजह से यह मौत दर्दनाक हो गयी थी कि वे स्वयं मरना नहीं चाहते थे, क्योंकि उन्हें दुनिया में अभी बहुत से काम करने थे। उदाहरण के लिए—उन्हें एक सोफ़ा-सेट ख़रीदना था, जिसकी कामना पिछले पंद्रह साल से उनके मन में थी; एक प्रकाशक से 'तू-तू मैं-मैं' करनी थी, जो अभी तक (स्वर्गीय की ख़ानदानी शराफ़त के कारण) स्थगित होती चली आ रही थी। इसके अलावा उन्हें किसी सुन्दरी से प्रेम भी करना था, क्योंकि यह काम भी पिछले चालीस बरस से टलता आ रहा था।

स्वर्गीय का वहम था कि वे किसी ऊँची जगह से गिर कर मरेंगे—चुनांचे उन्होंने हर ऊँची जगह से बचना शुरू कर दिया था—ऊँचे पहाड़, ऊँची सवारी, ऊँचे जानवर, ऊँचे मनुष्य, यहाँ तक कि ऊँची पदवी पर पहुँचने से भी कन्नी कतराते थे। एक बार उन्हें लगा कि उन्नति करते-करते कहीं वे कम्युनिस्ट पार्टी के लीडर ही न बन जायें, चुनांचे उन्होंने तत्काल कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया। इसी भय से स्वर्गीय सदा पैदल ही चला करते थे। और पैदल चलने का उन्होंने काफ़ी अभ्यास कर लिया था, क्योंकि अपने निर्धनता-युग के पूरे बीस बरस उन्होंने पैदल चलने में गुज़ार दिये थे।

लेकिन भाग्य के लिखे को क्या कहिए कि बावजूद पूरी सावधानी के वे ऊँची जगह से गिर कर ही परलोक गामी हुए। एक दिन पुस्तक पढ़ते-पढ़ते पैदल चले जा रहे थे कि सड़क के एक छोटे से गढ़े में पाँव जा पड़ा; गिरे और उसी वक़्त उठे जब अर्थी पर रखने के लिए उठाये गये।

सावधानी ने अंतिम समय में उनसे धोखा किया, हालाँकि पूरा जीवन वे सावधानी से जोंक की तरह चिमटे रहे—वे कभी गोलगप्पा तक नहीं खाते थे कि कहीं खाँसी न हो जाये। और जब खाँसी हो जाती तो उसका इलाज न करवाते कि कहीं डॉक्टर ग़लत दवा न दे दे।

स्वर्गीय अपने पीछे एक बीवी, तीन बच्चे और चन्द दुश्मन छोड़ गये।

दुश्मन दो प्रकार के थे—एक वे जिनसे स्वर्गीय ने क़र्ज़ लिया था और दूसरे वे जिन्हें स्वर्गीय ने क़र्ज़ दिया था। दाह-कर्म-संस्कार के समय तमाम दुश्मनों ने घोषणा कर दी कि आज से दुश्मनी ख़त्म और अब हमें स्वर्गीय से कोई गिला नहीं रहा।

स्वर्गीय एक बार इससे पहले भी स्वर्गवासी हुए थे और डेढ़ महीने तक स्वर्गवासी रहे थे। आख़िर तंग आ कर उन्होंने एक समाचार-पत्र को चिट्ठी लिख दी कि वे गंगापुर, ज़िला चम्पारन में जीवित बैठे हैं। वास्तव में अपनी मृत्यु की घोषणा करके वे संसार को एक 'शॉक' (धक्का) पहुँचाना चाहते थे, मगर सिवाय धर्म-पत्नी और मालिक-मकान के और किसी को भी धक्का नहीं लगा और न किसी की आँख से आँसू निकले। इसीलिए वे अपनी मृत्यु से अत्यन्त निराश हो गये और मृत्यु-घोषणा का खंडन करते हुए उन्होंने समाचार-पत्र में विज्ञप्ति दे दी थी।

मगर इस बार वे सचमुच स्वर्ग सिधार गये और उनकी मृत्यु की गवाही बड़े-बड़े बुद्धिवादियों और भद्र पुरुषों ने दी। उनकी अर्थी में अनेक इन्टलेक्चुअल क़िस्म के भद्र पुरुष सम्मिलित हुए। शोक प्रकट करने के लिए एक सभा भी की गयी, जिसमें उनके बचे-खुचे कुटुम्ब के लिए चंदे की अपील की गयी। एक दानी नागरिक ने सभा में ही घोषणा की कि उन्हें एक फ़र्म से डेढ़ सौ रुपये पाना है। उसे वसूल करके उनके नाम से चन्दा लिख लिया जाय। (यह फ़र्म उस समय दिवालिया हो चुकी थी।)

एक प्रकाशक ने वचन दिया कि उन्होंने अपने अपमान के सम्बन्ध में स्वर्गीय पर जो अदालती मामला चला रखा है उसे वे वापस लेते हैं और उनकी इस उदारता को ही स्वर्गीय की सहायता मान लिया जाये। इस पर तालियाँ बजायी गयीं और प्रकाशक को फूलों के हार पहनाये गये।

स्वर्गीय में चन्द एक गुण थे और चन्द एक गुण नहीं भी थे, इसीलिए वे बड़े संतुलित स्वभाव के मनुष्य माने जाते थे। दूसरों को वे ज़रा भी कष्ट नहीं देते थे। अपने बच्चे को चपत मारते तो बच्चे के स्थान पर ख़ुद रोने लगते, पितृ-प्रेम के कारण नहीं, बल्कि इस डर से कि बच्चा बुरा मान जायेगा।

कहीं कोई मतभेद न पैदा हो जाय, इसलिए पड़ोसियों से दुआ-सलाम भी नहीं करते थे। कम पढ़े-लिखे लोगों में आदर की दृष्टि से देखे जाते थे और ज़्यादा पढ़े-लिखों में ईर्ष्या की दृष्टि से। क़र्ज़ ले कर इतनी जल्दी लौटा देते थे कि ऋणदाता को सन्देह हो जाता कि मख़ौल कर रहे हैं, लेकिन कई बार क़र्ज़ ले कर वापस न करते और अपने-आपको काफ़ी कमीना अनुभव करते। अपने विश्वासों में ब्रह्मवाद के समर्थक थे, लेकिन अन्तिम आयु में बड़े ख़ुशामदी हो गये थे। कहा करते, ख़ुशामद के बिना ब्रह्मवाद को भी जीवित रखना बहुत कठिन है। साथ ही अपनी ख़ुशामद का मज़ाक़ भी उड़ाया करते। मैंने कहा न, वे बड़े ही संतुलित व्यक्ति थे।

स्वर्गीय को अपने विचार प्रकट करने का बड़ा चाव था और यही चाव उन्हें ले डूबा। वे अपने सभी विचार प्रकट कर बैठते और फिर ख़ाली हो जाते थे। तरकश में एक तीर भी बाक़ी न रहता, चुनांचे लोग उन्हें निहत्था पा कर हलाल कर देते। वे अपनी शक्ति को गुप्त नहीं रख सकते थे, परिणाम-स्वरूप मामूली धोबियों और हलवाइयों तक से पट जाते और फिर टसुवे बहाते कि दुनिया कमीनी है, अन्धी है, बेस्वाद है।

स्वर्गीय के जीवन की शुरूआत बेवक़ूफ़ियों से हुई। माँ रोटी के सूखे टुकड़े पानी में भिगो कर खिलाती तो वे कुछ न कहते। बड़े चाव से चबाते। अध्यापक उनकी योग्यता की प्रशंसा करते तो वे गर्व करने की बजाय शरमा जाते। यार-दोस्त उन्हें धक्का दे कर गिरा देते तो उसका ज़िक्र किसी से न करते। ज़्यादा-से-ज़्यादा घर आ कर संसार के व्यवहार पर एक कविता लिख देते।

एक के बाद एक ऐसी ही बेवक़ूफ़ियों में उनके व्यक्तित्व का सृजन हुआ और अगर स्वभाव से बुद्धिमान न होते तो लोग उनकी हड्डियाँ तक पीस डालते। यह बुद्धिमत्ता भगवान की देन थी, उनका अपना इसमें कुछ नहीं था। अपनी तो केवल बेवक़ूफ़ियाँ थीं, इसलिए माता-पिता की आर्थिक दशा पर तरस खा कर उन्होंने शिक्षा अधूरी ही छोड़ दी और एक रंगरेज़ के यहाँ पगड़ियाँ-दुपट्टे रँगने का काम करने लगे। बाद में जब प्रसिद्ध साहित्यकार

बन गये तो उस रँगरेज़ के कथनानुसार, बड़े घमंडी हो गये।

स्वर्गीय ने रँगरेज़ी के बाद कई और धंधे भी अपनाये। रँगरेज़ी, कम्पोज़ीटरी, क्लर्की, स्कूल-मास्टरी, पेंटरी, दुकानदारी, चपरासगिरी, चिकित्सा। पर जब कहीं भी सफल न हो सके तो तंग आ कर माता-पिता ने उनका ब्याह कर दिया। और अगर उस वक़्त ब्याह न होता तो निश्चय ही वे संन्यास धारण कर लेते। लेकिन विधाता को कुछ और ही स्वीकार था। धर्मपत्नी ने आते ही उनकी शराफत और भलमनसी पर ताबड़तोड़ हमले शुरू कर दिये और यह उन श्रीमती जी की ही देन थी कि वे अन्तिम दिनों में डिप्लोमेट बन गये थे, जिससे उन्हें नीचता में पूर्णता प्राप्त करने का सुअवसर मिला। बड़े अरमानों से कहा करते, 'अगर मैं बचपन से ही डिप्लोमेसी को अपनाता तो आज किसी राज्य का मुख्य-मंत्री होता।'

स्वर्गीय अच्छे-ख़ासे मानव-पुजारी थे। उन्हें हर समय मानवता की बरबादी का डर लगा रहता था। जितनी देर जिये, मानव-कल्याण के ग़म में जिये और अमर हो जाते तो भी मानव-कल्याण ही करते रहते। कुछ पूरी तरह तो मालूम नहीं कि वे किस क़िस्म का मानव-कल्याण चाहते थे, लेकिन एक बात साफ़ थी कि मानवता को किसी बहुत बड़े शिखर पर ले जाना चाहते थे। मसलन वे चाहते थे कि चोर न्यायाधीश के सामने जाते ही मान ले कि मैंने चोरी की है। उन्हें बहुत समझाया गया कि यह असम्भव है, पर वे यही आग्रह करते रहे कि यह शत-प्रतिशत सम्भव है—मरने से एक सप्ताह पहले उन्होंने मुश्किल से इतना क़बूल किया कि यह केवल पचास प्रतिशत ही सम्भव है।

ख़ैर, उन्होंने जीवन भर मानव-जाति के लिए काम किया। कविता की एक पुस्तक लिखी, लेकिन उसमें मानव-कल्याण की भावना कुछ इतनी ज़्यादा गहरी हो गयी कि कविताएँ किसी मानव की समझ में नहीं आ सकीं! साहित्यकारों के लिए कई समस्याएँ उठायीं जो कि साहित्यकारों की आपसी लड़ाइयों ने बैठा दीं। दो साप्ताहिक पत्रिकाएँ और चार साहित्यिक परचे चालू किये, जो मानव-जाति की लापरवाही के कारण धीरे-धीरे बन्द हो

गये। एक बार दीवारों पर मानव-कल्याण के नारे लिखने के लिए निकले तो चिलचिलाती धूप के कारण सड़क पर मूर्छित हो गये। मानव-कल्याण के सम्बन्ध में एक बार गिरफ़्तार भी हुए, लेकिन मेडिकल ग्राउँड पर बरी कर दिये गये। वे आम तौर पर अंडर ग्राउंड अनार्किस्टों और बाग़ियों क अपने घर में आश्रय दिया करते थे। परिणाम यह हुआ कि उनकी गिरफ़्तारो के वारंट जारी हो गये। बाद में मालूम हुआ कि वारंट राजनीतिक विचारों के कारण नहीं, बल्कि क़र्ज़े की वसूलो के सिलसिले में जारी हुए थे। आख़िर धर्मपत्नी के गहने-पाते बेच कर उन्होंने क़र्ज़ा चुका दिया। तीसरी बार इस लिए गिरफ़्तार हुए कि एक ग़रीब स्त्री की ख़ातिर एक टैक्सी वाले से लड़ पड़े थे। फलस्वरूप एक दाँत टूट गया और पाँव की हड्डी मुरक गयी।

मानवता को पतन की गहराइयों से उन्नति के शिखर तक पहुँचाने के ख़याल से स्वर्गीय ने आधी दर्जन व्यंग्यात्मक पुस्तकें लिख डालीं जो सब-की-सब लोकप्रिय हुईं। पर उनके प्रकाशकों को हमेशा गिला रहा कि उनकी पुस्तकें बिकती नहीं। उनकी बजाय लोगों के जासूसी उपन्यास ज़्यादा बिकते हैं। (एक बार स्वर्गीय ने भी एक जासूसी उपन्यास लिखा, पर वह भी नहीं बिका।) उनकी तमाम पुस्तकों में मानव-कल्याण सम्बन्धी समस्याओं का ही वर्णन है, जिनमें चारपाई से ले कर भगवान तक का उल्लेख मिलता है। खेद है कि उनकी पुस्तकों के केवल एक-एक एडीशन ही छपे और मानव-कल्याण अधूरा रह गया।

व्यंग्यात्मक पुस्तकों के अलावा उन्होंने एक राजनीतिक पुस्तक भी लिखी, जिसमें एक राजनीतिक नेता के गुण गाये गये थे। मगर उस नेता के राजनीतिक पतन के कारण वह पुस्तक बाज़ार में न आ सकी। यह नेता भी मानव-कल्याण के लिए काम कर रहे थे।

उच्च कोटि की इन पुस्तकों के अलावा उन्होंने एक अत्यन्त घटिया और बाज़ारू प्रेम से भरपूर उपन्यास भी लिखा जो गरम पकौड़ी की तरह ख़ूब बिका। केवल इसी पुस्तक की रायल्टी से उन्होंने अपनी श्रीमती के लिए सोने के गहने बनवाये। स्वर्गीय इन गहनों को देख-देख कर ठंडी आह

भरते और धर्मपत्नी से कहा करते, "श्रीमती जी ! ये गहने नहीं हैं, मानव-जाति की हड्डियाँ हैं, जो तुमने पहन रखी हैं।"

और आज, जब कि स्वर्गीय इस संसार से उठ गये हैं, उनके नेक कामों का दुबारा आदर करना ज़रूरी है। उनकी बुराइयाँ उनके साथ वापस चली गयीं, इसीलिए हमें कोई भय नहीं रहा। अलबत्ता उनकी अच्छाइयाँ संसार में रह गयीं हैं और अब यह दुनिया का कर्तव्य है कि उनकी अच्छाइयों को यतीमों की तरह पाले-पोसे और जिस महान आदर्श को स्वर्गीय अधूरा छोड़ गये हैं, उसे पूरा करे। और अगर इसे पूरा न किया गया तो डर है कि स्वर्गीय की आत्मा एक बार फिर यहाँ आ जन्मेगी और एक बार फिर संसार में मानव-कलाण का प्रचार शुरू कर देगी।

ग़ुलाम अब्बास

●●●

वंश-वृक्ष

छज्जू

बाप के नाम का, खोज करने पर भी, पता न चल सका । गाँव में कबाब बेचते थे ।

शेख़ मसीता

छज्जू के बेटे । शहर में पहले बीड़ी सिगरेट की दुकान की, फिर अत्तारी करने लगे ।

हकीम उमरदराज़

शेख़ मसीता के बेटे । अपढ़ थे, मगर सारी उम्र हकीमी करते रहे । ग़ज़ब के होशियार थे । अगर तालीम पायी होती, तो न जाने क्या-क्या कमाल दिखाते । कहते हैं उन्हें कीमिया बनाने का शौक़ था, और उनका यह शौक़ पागलपन की हद तक पहुँचा हुआ था । जो कुछ कमाते उसी की भेंट चढ़ जाता । मगर आखिरी उम्र में इन्होंने कीमियागरी से तौबा कर ली थी ।

चौधरी शम्सुद्दीन

हकीम उमरदराज़ के बेटे। तीन-चार। दर्जे तक पढ़े थे ! इनकी गिनती शहर के बड़े ठेकेदारों में होती थी। इन्होंने खासी दौलत कमायी और काफ़ी जायदाद भी बनायी।

हाजी शफ़ाअत अहमद

चौधरी शम्सुद्दीन के बेटे। एंट्रेंस तक तालीम पायी। वर्षों एक सरकारी दफ़्तर में क्लर्की करते रहे। बाद में सुपरिंटेंडेंट हुए। पेंशन मिली और हज को गये।

नोट—इनके वक़्त से इस खानदान के हाथ से व्यापार निकल गया और नौकरी होने लगी।

क़ारी ग़ौस मुहम्मद

हाजी शफ़ाअत अहमद के बेटे। अभी कॉलेज मे ही थे कि हाजी साहब ने अपने असर-रुसूख़ के बल इन्हें रेलवे में गार्ड की नौकरी दिलवा दी। बड़ी अच्छी आवाज़ थी। मकतब में ही क़िरअत (कुरान को लय के साथ पढ़ना) भी सीखी थी, जिस कारण क़ारी कहलाये। इन्होंने नमाज़ कभी नहीं छोड़ी। इस की वजह लोग यह बताते हैं कि रेलवे की नौकरी ने इन्हें वक़्त का बहुत पाबन्द बना दिया था।

खानसाहब ग़ज़नफ़र अली शाह सब-इंस्पेक्टर पुलिस

क़ारी ग़ौस मुहम्मद के बेटे। बी० ए० तक शिक्षा पायी। बाद में फुलौर जा कर पुलिस को ट्रेनिंग हासिल की। बहुत रोबदाब वाले और लम्बे-तगड़े आदमी थे। मिज़ाज में बला का ग़ुस्सा था। बात-बात में मातहतों पर लाल-पीले होते थे। दिलावर और मनचले थे। बड़े-बड़े नामी डाकुओं को बहादुरी से गिरफ़्तार किया था। शहर के बदमाश और उठाईगीरे इन का नाम सुन कर काँपने लगते थे। इनकी बहादुरी के क़िस्से बहुत मशहूर

थे। मगर इन की बदमिज़जी और हद से ज़्यादा शराब पीने के कारण ऊपर के अफ़सर इन से नाखुश रहते थे, चुनाँचे उम्र भर सब इंस्पेक्टरी से आगे न बढ़ सके। इन की जाति हमेशा एक पहेली बनी रही। लोग इन्हें ग़ज़नफ़र शाह सय्यद बादशाह कह कर पुकारते थे। इन्होंने कभी अपने सय्यद होने का प्रतिवाद नहीं किया। खुद ये अपने दस्तखत 'खाँ साहब ग़ज़नफ़र अली' किया करते थे।

शेख़ तुराब अली बी० ए० एल एल० बी० एडवोकेट

ग़ज़नफ़र अली शाह, सब इंस्पेक्टर पुलिस के बेटे। शहर के सब से क़ाबिल वकीलों में गिने जाते थे। बड़े हँसोड़ और मिलनसार थे। हास्य रस की शायरी भी करते थे। योग्यता से ज़्यादा इन की विनोद-प्रियता इन की ख्याति का कारण बनी। इन्होंने अपने पेशे को ध्यान में रखते हुए अपने नाम के साथ शेख़ लिखना ज़्यादा पसन्द किया। वकालत में खूब नाम और धन भी कमाया।

डा० तहसीन अली एम० बी० बी० एस०, सर्जन ऐंड फ़िज़ीशियन

शेख़ तुराब अली बी० ए० एल-एल० बी० एडवोकेट के बेटे। बचपन ही से बहुत सीधे-सादे और रहमदिल थे। इन्हें यह पसन्द नहीं था कि कोई भी आदमी दुख-दर्द से पीड़ित रहे। इनके पूर्वज हकीम उमर दराज़ हिकमत में नाम पा चुके थे। इसीलिए इन्होंने बाप के विरोध करने के बावजूद डाक्टरी पढ़ी और रोगियों की सेवा में ज़िंदगी बिता दी।

मिस्टर इलियास हारून बार-एट-ला

डा० तहसीन अली एम० बी० बी० एस० सर्जन एंड फ़िज़ीशियन के बेटे। इन्हें स्कूल के ज़माने से ही यूरोप जाने का बेहद शौक़ था, इसलिए विलयात जा कर बैरिस्टरी पास की। खानदान का नाम खूब बढ़ाया और धन भी बहुत कमाया।

खान बहादुर मियाँ रुक्नुद्दीन, मेम्बर लेजिस्लेटिव कौंसिल

मि० इलियास हारून बैरिस्टर के बेटे। इनकी उम्र का अधिकांश भाग संघर्ष में बीता। आराम बहुत कम नसीब हुआ। यद्यपि ये शिक्षा अधिक न प्राप्त कर सके, किंतु अपनी प्रतिभा और बुद्धिमत्ता के बल पर खानदान का नाम खूब रोशन किया। अभी १७-१८ बरस के थे कि एक समाज-सुधारक संस्था में स्वयंसेवक के रूप में भरती हो गये और इसी कारण अधिक शिक्षा न प्राप्त कर सके। ये अच्छे वक्ता थे। इसलिए धीरे-धीरे नेता बन गये। संयोग से उस समय देश में कोई आन्दोलन नहीं चल रहा था। नेतागीरी का बाज़ार मंदा पड़ गया तो इन्होंने साहित्यिक पत्रिका निकाली। पर ये वक्ता थे, साहित्यकार नहीं। इसलिए लोगों ने पत्रिका से विशेष दिलचस्पी नहीं ली और उसे बंद कर देना पड़ा। म्युनिसिपैलिटी की मेम्बरी के लिए खड़े हुए तो पहली बार सफलता न मिली। दूसरी बार फिर कोशिश की, पर असफल रहे। पर वोट काफ़ी मिले थे, इसलिए इन्हें इत्मीनान था। तीसरी बार फिर नाम पेश किया। इस बार इन्होंने इस के लिए तीन महीने पहले एक साप्ताहिक पत्र निकलवाया। अल्लाह ने क़ामयाब किया। होते-होते कौंसिल के मेम्बर भी बन गये। सरकार ने 'खान बहादुर' की उपाधि दी। ज़मीन भी मिली।

नोट—इन के समय से खानदान के लोगों को सरकारी उपाधियाँ मिलने लगीं।

आनरेबुल सर दारा शिकोह, चीफ़ जस्टिस हाईकोर्ट

खानबहादुर मियाँ रुक्नुद्दीन एम० एल० सी० के बेटे। इनका समय बहुत अच्छा बीता और इन्हें ज़्यादा जद्द-ो-जेहद नहीं करनी पड़ी, क्योंकि खानदान के नाम और बाप की सेवाओं के कारण इन्हें हर जगह सफलता ही सफलता मिली। सरकार ने भी इन की क़द्र की। इन के ज़माने में खानदान के यश और धन दोनों में वृद्धि हुई।

राइट आनरेबुल सर जमशेदजाह बहादुर पी० सी० के० सी० एस० आई, के० सी० आई० ई०

सर दारा शिकोह, चीफ़ जस्टिस हाईकोर्ट के सुपुत्र। कई रियासतों के मंत्री और फिर एक बड़ी रियासत के प्रधान-मंत्री हुए। खूब धन कमाया और खानदान की इज़्ज़त को चरम-शिखर तक पहुँचाया। अंत समय काफ़ी बड़ी जागीर छोड़ी।

खान बहादुर सूफ़ी बेदारबख्त बी० ए० जागीरदार

राइट आनरेबुल सर जमशेद जाह बहादुर पी० सी० के० सी० एस० आई०, के० सी० आई० ई० के बेटे। बी० ए० तक तालीम पायी। बाप ऊँची शिक्षा के लिए विलायत भेजना चाहते थे, पर उनका स्वर्गवास हो गया। बेदारबख्त बचपन ही से बड़े सीधे-सादे और विनम्र स्वभाव के थे। धर्म की ओर इनका झुकाव ज़्यादा था। खुदा का दिया सब कुछ था। ऊँची तालीम के लिए यूरोप जाने की ज़रूरत थी, न नौकरी करने की। ये एकांतबासी हो कर अल्लाह की याद में लगे रहे। इनकी उम्मीद और इच्छा के खिलाफ़ सरकार ने इन्हें खान बहादुर की उपाधि दी। उसे खुदा की मेहरबानी समझ कर खामोश हो रहे।

साहबज़ादा नसीम उर्फ़ छोटे मिर्ज़ा, रईस आज़म

खान बहादुर सूफ़ी बेदारबख्त बी० ए० जागीरदार के बेटे। मैट्रिक तक तालीम पायी, फिर अपनी जागीर का इंतज़ाम करने लगे। बाप की तरह इन्होंने भी नौकरी को अपने लिए हराम जाना। नौकरी की ज़रूरत भी [illegible] ईसाना ठाठ से रहे। बहुत खूबसूरत और तंदुरुस्त थे। कहते [illegible] सा खाना खाया और जैसा कपड़ा पहना, वैसा बहुत कम

लोगों को नसीब होता है। खानदान में 'मिर्ज़ा' लिखना पहले-पहल इन्होंने ही शुरू किया।

अबुल-ख़याल मिर्ज़ा 'बेकल'

साहबज़ादा नसीम उर्फ़ छोटे मिर्ज़ा, रईस आज़म के बेटे। एंट्रेंस में फ़ेल होने के बाद तालीम से जी ऐसा उचाट हुआ कि फिर स्कूल का रुख नहीं किया। शायरी से बचपन से ही लगाव था। अपने मकान पर बड़े-बड़े तारीख़ी मुशायरे किये। ख़ुद शे'र कहते थे। मशहूर था कि शे'र कहना होता तो चादर ओढ़ कर चारपाई पर लेट जाते और घंटों बिस्तर पर लोटते-पोटते रहते और जब तक ग़जल पूरी न हो जाती, न उठते। बहुत-सा रुपया ख़र्च कर के एक दीवान 'बेकल की पुकार' नाम से बढ़िया आर्ट पेपर पर सुनहरी रोशनाई से छपवाया था, जिसमें अरबी, फ़ारसी और उर्दू तीनों ज़बानों का कलाम था। वह दीवान अब दुर्लभ है। कला-प्रेमी और साधु आदमी थे। अपनी ज़िंदगी में दुर्लभ हस्त-लिखित पुस्तकों और पुरानी तसवीरों का एक बहुत क़ीमती संग्रह किया था। जाने इनके बाद उसका क्या हुआ!

नन्हें मिर्ज़ा

अबुल ख़याल मिर्ज़ा 'बेकल' के साहबज़ादे। वाजिबी तालीम पायी। अँगरेज़ी से बिलकुल कोरे रहे। बाप की इच्छा थी कि इन्हें शे'र-शायरी से लगाव पैदा हो और बाप का नाम रोशन करें, पर इन्हें इससे ज़रा भी दिलचस्पी न थी। इनका झुकाव बचपन से ही संगीत की ओर था। बाप के विरोध के बावजूद बड़े-बड़े नामी-गिरामी गवैयों को बुला कर उनसे संगीत की शिक्षा लेते रहे। सात बार ग्वालियर की यात्रा कर के तानसेन के मज़ार पर गये और हर बार उस इमली के पेड़ की पत्ती तोड़ कर खायी, जो उस मज़ार पर साया किये हुए है। पहले कई वर्ष तक गाना सीखते रहे, पर चूँकि आवाज़ बहुत अच्छी नहीं थी, इसलिए उस्तादों की सलाह से गाना छोड़ कर सितार का शौक़ करते रहे। लय और ताल की बेहद समझ रखते

थे। कहते हैं कि सोते में इनके पाँव का अँगूठा ताल देता रहता था। इनके पास एक बहुत पुराना तंबूरा था, जिसके बारे में मशहूर था कि वह मुहम्मद शाह रंगीले के दरबारी गायक नेमत अली खाँ सदारंग का है। बुढ़ापे में संगीत सम्बन्धी एक किताब 'सदाए-दिल नशीं नाम से लिखी, जिसकी पांडु-लिपि शायद इनका कोई दोस्त चुरा कर ले गया। बुढ़ापे में इस सदमे ने मिर्ज़ा की कमर तोड़ डाली और फिर चंद रोज़ बाद ही स्वर्ग सिधार गये।

मिर्ज़ा अच्छे

नन्हें मिर्ज़ा के बेटे। बहुत मामूली तालीम हासिल की। बाप-दादा की तरह इन्होंने भी कारोबार या नौकरी नहीं की, बल्कि दोनों को बुरा समझते रहे। थियेटर के बड़े शौक़ीन थे। इनकी हार्दिक इच्छा थी कि इनका अपना कोई थियेटर हो। पर बाप के जीवित रहते इस इच्छा की पूर्ति न हो सकी। बाप के मरने पर एक बार इन्होंने एक थियेटर के मालिक से मामला तय करना चाहा, पर किसी कारण इनकी मंशा पूरी न हो सकी। लाचार हो इन्होंने अपना विचार त्याग दिया।

लाड़ले मिर्ज़ा

मिर्ज़ा अच्छे के फ़रजंद दिलबंद। सिर्फ़ क़ायदा पढ़ा। बहुत विलक्षण स्वभाव के आदमी थे और स्वर्गवासी पिता की तरह थियेटर के शौक़ीन भी। पिता इन्हें अपने साथ थियेटर ले जाया करते थे। सच पूछिए तो इनको थियेटर का चस्का पिता ने ही लगाया था। पिता के मरने पर ये कुल जायदाद के वारिस बने। एक बार एक हिंदुस्तानी फ़िल्म देखने गये। उसमें कलकत्ते की एक हसीन एक्ट्रेस, लैला का अभिनय इन्हें बहुत भाया। उसका गला भी ग़ज़ब का था। इनका दिल उस पर आ गया। महीनों मुहब्बत-भरे खत लिखते रहे। आखिर कलकत्ता पहुँचे। बहुत-सा रुपया खर्च कर के उस तक पहुँच हुई और इन्होंने उससे विवाह का प्रस्ताव किया। लैला ने ऐसी खूबी से टाला कि इनका दिल न टूटा। तीन साल तक उससे मेल-

जोल रखा। बड़े-बड़े क़ीमती उपहार उसे भेंट करते रहे, यहाँ तक कि उसके नाम से एक फ़िल्म कम्पनी भी खोल दी। आख़िर लैला शादी पर राज़ी हो गयी। शादी के दूसरे ही वर्ष फ़िल्म कम्पनी फ़ेल हो गयी और लैला भी किसी ऐक्टर के साथ भाग गयी। लैला से एक लड़का हुआ था, जिसे ले कर वतन आये और उसके लालन-पालन के लिए एक नर्स रखी। यहाँ आ कर पता चला कि सारी जायदाद इश्क की भेंट चढ़ गयी और ले दे कर एक मकान और चंद दुकानें शेष रह गयी हैं। उन्हीं दुकानों के किराये पर गुज़र करने लगे।

मुहम्मद शफ़ी

लाड़ले मिर्ज़ा के बेटे। स्टेशन के पास 'शफ़ी होटल' नाम से एक छोटी-सी दुकान है। मुश्किल से गुज़ारा होता है। सुना है कि अब इन्होंने चोरी-छिपे शराब भी बेचनी शुरू कर दी है।

उपेन्द्रनाथ अश्क

●●●

आ लड़ाई आ, मेरे आँगन में से जा !

गाड़ी जब लाहौर से चली तो जल्दी में सवार हुए एक हृष्ट-पुष्ट सिख मुसाफ़िर ने यह देख कर सुख की साँस ली कि ऊपर एक बर्थ पर काफ़ी जगह ख़ाली है। कमीज़ की बाहें चढ़ा, बिस्तर उठा, उसने उधर फेंका और शेष सामान इधर-उधर जमा कर वह बिस्तर खोलने ही लगा था कि उसके मन में आशंका पैदा हुई—कहीं यह डिब्बा कट न जाता हो, नहीं मेल में इतनी जगह कैसे ख़ाली हो सकती है ?—और बिस्तर खोलना छोड़, उसने निचली सीट पर बिस्तर बिछाये, आराम से लेटे दूसरे मुसाफ़िर से पूछा—

"क्यों जी यह डिब्बा भटिंडा कट जाता है या सीधे दिल्ली तक जाता है ?"

"जी भटिंडा कट जाता है।" दूसरे ने जो रंग-रूप में मच्छी-हट्टा, लाहौर का कोई कसरती लाला दिखायी देता था, लेटे-लेटे उत्तर दिया।

सामने की बर्थ पर लाहौर ही के एक मुसलमान युवक का बिस्तर बिछा

था, पर वह अभी लेटा न था और आराम से बैठा सिगरेट पी रहा था। कश खींच कर बोला :

"नहीं जी ये ग़लत कहते हैं, डिब्बा सीधा दिल्ली तक जाता है !"

लाला को जैसे बिजली का तार छू गया। उचक कर उठा और बोला, "दिल्ली क्या कलकत्ता जाता है? आपको कुछ मालूम भी है। महीना भी नहीं हुआ मैं स्वयं गया था और यह डिब्बा भटिंडा कट गया था।"

"महीना।" युवक व्यंग्य से हँसा, "मैं हफ़्ता पहले की बात करता हूँ। दिल्ली तक सोता गया था।"

"सोते गये थे!" लाला ने एक "उँह" करते हुए व्यंग्य से सिर को झटका दिया, "क्यों एक भले आदमी को परेशान करते हो?" और फिर जैसे दूसरे यात्रियों को सुनाते हुए व्यंग्य से बोला :

"फ़ीरोज़पुर से कभी आगे बढ़े नहीं और खबर दिल्ली की देते हैं।"

युवक का ख़ून खौल उठा। सिगरेट खिड़की से फेंकते हुए बोला, "वाह रे रोज़ कलकत्ता जाने वाले? शक्ल से तो घसियारा दिखायी देता है!"

लाला झुँझला कर उठा, "क्या कहा, घसियारा तेरा बाप होगा।"

युवक ने उत्तर में घूँसा फेंका।

कुछ क्षण हवा में गालियों और मुक्कों का आधिपत्य रहा। लाला यद्यपि नित्य महावीर व्यायाम-शाला में कसरत करने वाला था, किन्तु युवक का सा साहस उसमें न था, इसलिए वह कुछ ज़्यादा पिट रहा था। तभी जब युवक के एक घूँसे से वह डिब्बे की दीवार से जा लगा तो उसने वहीं पास पड़ी किसी मुसाफ़िर की सुराही उठा कर युवक के सिर पर दे मारी। सिर फट गया। ख़ून बहने लगा। किसी ने पुलिस को रिपोर्ट दे दी। फ़ीरोज़पुर पहुँचते ही थानेदार गाड़ी में आ धमके और उन्होंने दोनों को वहीं उतरने का आदेश दिया।

पुलिस की शक्ल देखते ही लाला का जोश कुछ ठंडा हो गया। लोगों ने भी समझाया कि आप लोग पहले ही कम परेशान नहीं हुए। अब आपका प्रोग्राम अलग खराब होगा, झूठा-सच्चा कोई भी सिद्ध हो, ख्वार

दोनों होंगे। घायल युवक मात्र सैर को जा रहा था। उसे कोई जल्दी न थी। वह उतरने को तैयार था, पर लाला के काम का हर्ज होता था। ग़लती भी उसी की थी। उसी ने ताना दिया था और उसी ने सुराही मारी थी। उसने युवक से क्षमा माँगी। सिर आगे किया कि यदि सुराही उसके सिर पर मार कर ही उसे संतोष होता हो तो उसकी अपनी सुराही उसके सिर पर मार कर संतोष कर ले! युवक का गुस्सा दूर हो गया। उसने कपड़े बदले। लाला ने अपनी धोती फाड़ कर उसके पट्टी बाँधी। पुलिस चली गयी। गाड़ी भी चल पड़ी।

"क्यों साहब यह डिब्बा भटिंडा कट जायगा या सीधा दिल्ली तक जायगा?"

फ़ीरोज़पुर से चलती गाड़ी में बिस्तर फेंक कर ख़ासी अफ़रातफ़री में एक व्यक्ति सवार हुआ। सूरत-शक्ल से वह यू० पी० का कोई सुसंस्कृत मुसलमान लगता था। जब उसकी साँस दुरुस्त हुई तो डाढी पर हाथ फेरते हुए उसने सिख मुसाफ़िर से यह प्रश्न किया, जो बिस्तर खोलना भूल कर यह कौतुक देखने लगा था।

पुनः बिस्तर खोलने का प्रयास करते हुए सिख मुसाफ़िर ने क़दरे हँस कर लाला की ओर संकेत किया, जो पिट-पिटा कर फिर लेट गया था और बोला, "मुझे खुद मालूम नहीं, इनसे पूछिए!"

लाला पहले ही जला बैठा था साँप की तरह फुंकारा, "क्यों अब तेरा सिर फोड़वाने का इरादा है?"

बिस्तर बिछाना छोड़कर सिख ने कहा, "क्या मुझे भी नामर्द समझ लिया है जो सिर फोड़वाकर लेट जाऊँगा। उठा कर गाड़ी के बाहर न फेंक दूँगा सिर फोड़ने वाले को।"

"नामर्द।" युवक सिर के घाव की परवाह न करके उठा और 'ज़रा आ तो देखूँ तेरी मरदुमी' कहता हुआ सिख की ओर लपका।

अब के तीनों उलझ गये। हवा में फिर गालियाँ, घूसे और थप्पड़

तैरने लगे।

डिब्बा भटिंडा नहीं कटा, किन्तु वे तीनों पंजाबी कट गये। लाला और युवक अस्पताल पहुँचे और सिख मुसाफ़िर हवालात। गाड़ी चली तो ऊपर की बर्थ पर बिस्तर बिछाये वह यू० पी० का मुसलमान बड़े आराम से सो रहा था और उसके हल्के ख़र्राटों की आवाज़ डिब्बे की नीरवता में एक मधुर सा शोर पैदा कर रही थी।